विषय सूची

गो-सेवाव्रत का उपसंहार

(भूमिका)

देवेऽर्षति यज्ञविप्लवरुषा वज्राश्मवर्षानिलैः।
सीदत्पालपशुस्त्रि आत्मशरणं दृष्ट्वानुकम्प्युत्स्मयन् ॥
उत्पाट्यैक करेण शैलमचलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा।
बिभ्रत् गोष्ठमपान्महेन्द्र मदभित् प्रीयान्न इन्द्रो गवाम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० २६ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

गाय न यदि अब बचीं दुरदशा जग की होई।
गाय गाय हम कहैं गाय की सुनत न कोई ॥
गायनि की लखि विपति सपदि मम हियो हिलत है।
गाय हमारी माय हाय! नित छुरी चलत है॥
गाय इन्द्र गोविन्द ! तुम, रहे न का नँदलाल हो?
गाय कटति नित अवनि पै, कैसे तुम गोपाल हो?

जिस स्थान मे गौओं का वध होता हो, उस स्थान से दश दश कोश तक न तो कोई वैदिक तान्त्रिक मंत्र ही सिद्ध हो सकता है,

---

*अपने वार्षिक यज्ञ के भग हो जाने से कुपित हुए इन्द्र जब घोर वर्षा करने लगे उस समय समस्त व्रज वासियों को स्त्री और गौओं के सहित ओलों के बौछारों तथा प्रचड पवन से पीडित होने के कारण अपनी शरण म आये हुए देखकर जिन श्री कृष्णचन्द्र जी ने उन सब पर कृपा करने के निमित्त हँसते हँसते ली। पूर्वक एक ही हाथ स

न जप, तप, पूजा, पाठ अनुष्ठान ही सांगोपांग पूर्ण हो सकता है। जिस देश ने गोवध को मान लिया वहाँ आध्यात्मिकता रह ही नहीं सकती। आध्यामिकता के मूल कारण दो ही हैं, वेदवित् ब्राह्मण और कामधेनु गौ। ब्राह्मण ज्ञान को—वेद को-धारण करती हैं। गौएँ यज्ञ की हवि को धारण करती हैं। आत्मा को पुष्ट करने वाला ज्ञान और यज्ञ को पूर्ण करने वाला हवि। जहाँ ज्ञान नहीं यज्ञ नहीं, वहाँ हाय रोटी, हाय हाय बुभुक्षा, लाओ रोटी पेट भरो यही एक रटन है। रोटी की कोई सीमा नहीं मर्यादा नहीं, बुभुक्षा की सीमा नहीं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के खाद्य पदार्थ मिलने पर भी बुभुक्षा शान्त नहीं होती, विश्व ब्रह्माण्ड को निगल जाने पर भी पेट नहीं भरेगा। इच्छा कभी पूर्ण न होगी, तृष्णा कभी शान्त नहीं होगी, भोगों से कभी तृप्ति न होगी। होगा क्या? कलह, अशान्ति, संघर्ष, ईर्ष्या, जलन, एक दूसरे को नष्ट करने की इच्छा। यह सब होगा उन्नति के नाम पर। क्योंकि "अधर्मं धर्मइति मन्यते तमसावृता।"

बड़ी इच्छा थी जीवन में भगवत् प्राप्ति की कुछ देश धर्म की सेवा करने की, सो हुई नहीं। मन में एक भावना है। वेदना है, या अंधपरम्परा है कि देश से गोवध बन्द हो जाय। भारत में भारतीय शासन हो और फिर भी गोवध चालू ही रहे। इससे बढ़कर दुःख, लज्जा, आश्चर्य और खेद की कौन-सी बात होगी देश से गोवध कैसे बंद हो? यह काम उनका है जिनके हाथ में देश का शासन सूत्र है। जिनके हाथ में शासन सूत्र है, उनके हृदय

गोवर्धन पर्वत इसी प्रकार उखाड़कर धारण कर लिया जिस प्रकार छोटा बच्चा छत्राक (कुकुरमुत्ता) को उखाड़कर धारण कर लेता है, इस प्रकार जिन्होंने समस्त व्रज की रक्षा की वे ही इन्द्र के मद को चूर्ण करने वाले गौओं के इन्द्र गोपाल गोविन्द हम पर प्रसन्न हों।"

में भारतीय परम्परा के प्रति सम्मान नहीं। आर्य संस्कृति के प्रति आदर नहीं, धर्म के प्रति प्रेम नहीं, भारतीयता का गौरव नहीं। वे पश्चिमीय शिक्षा दीक्षा में दीक्षित हैं, उनके लिये गंगाजल साधारण पानी है, पीपल सामान्य वृक्ष है, वेद असभ्यता के अवशेष हैं। गौ साधारण पशु है धर्म सब धर्म नहीं केवल हिन्दु धर्म एक अवनति तथा कलह का कारण है। उससे निरपेक्ष रहना उसे मटियामेट कर देना यही उन्नति का मूल है। छल से, बल से, कपट से, माया से किसी भी प्रकार शासन सूत्र को अपने हाथों में रखना यही उनका ध्येय है।

कलि अधर्म का बन्धु है, उसके प्रभाव से सर्वसाधारण में भी धर्म के प्रति अनुराग नहीं। सर्वसाधारण तो लगुड से चलने वाले हैं उनका शासक उन्हें चाहे जिधर ले जाय। जनमत की तो एक ओट है पहिले निरंकुश शासकों को ऋषि मुनि तपस्या के बल से मना लेते थे। आज हममें तप बल भी नहीं रहा। स्वधर्म पालन में हम उदासीन हो गये, सदाचार से हम हीन हो गये, इसलिये वाणी में वह ओज तेज नहीं रहा। पराम्न पापान्न खाते खाते हमारे हाथ दग्ध हो गये, परनिंदा करते करते वाणी कुंठित हो गयी। मातृजाति को कामिनी रूप में निहारने से हम दृष्टिहीन हो गये फिर कैसे किसी पर हमारा प्रभाव पड़े, कैसे लोग हमारी बात मानें। फिर भी मन मानता नहीं कुछ न कुछ होना चाहिये।

गो-हत्या कैसे बंद हो, यह प्रत्येक भारतीय की भावना है कोई उसे व्यक्त नहीं कर सकते। जो कुछ करते हैं, वे द्वेष मोल ले लेते हैं, निरंतर दूसरों के दोषों का ही गान करते हैं, 'इससे यह' भावनामूर्त रूप धारण नहीं कर सकती। जीवन यदि सदाचार पूर्ण हो, हम स्ववर्ण स्वधर्म के अनुरूप आचरण कर सकें तो

कोई भी शक्ति हमे रोक नहीं सकती। उसी के अभाव मे यह सब गड़बड़ी है।

गोहत्या निवारण के निमित्त अनशन की सोची-उसके लिये साहस नही हुआ। लोगों की सम्मति का तो बहाना है, जिस के हृदय मे प्रबल भावना है, वह गौओं की हत्या को देख सुन कर क्षणभर भी जीवित न रह सकेगा। किन्तु हमारी छिपी भावना यह है—हमारा नाम हो। सब लोग हमे जान जायँ हमारा नेताओं मे नाम लिख जाय। इसी भावना से काम हम लोग करते हैं। भगवान् उसे पूरा कर देते हैं, कल्पतरु भगवान् सब के घट की जानते हैं।

हाँ तो अनशन वाली बात तो स्थगित रही। अब सोचा गो सेवा व्रत करें। १०८ दूध देने वाली गौओं को रखकर वर्षा के चार महीने उनकी सेवा करें पीछे योग्य पात्रों को उन्हें दान कर दें। ऐसा सङ्कल्प गत माघमास मे उठा। वैशाख में एक घटना घटित हो गयी। हमारे यहाँ भरवारी सिराथू तथा प्रयाग के आसपास के स्टेशनो से सहस्रो गौऐं कटने को कलकत्ते ले जायी जाती हैं। उनमे कुछ तो क्रय की हुई होती हैं कुछ चोरी की। वधिक-कसाइयों-के दलाल लगे रहते हैं जिनमे कुछ हिन्दु नामधारी पापी भी सम्मिलित हैं, वे नगरों मे जगलो में इधर उधर छूटी हुई गौओं को पकड़ कर ट्रक मे लादकर ५०। १०० मील के स्टेशनों पर छोड़ आते हैं। कसाई लोग स्टेशन के कर्मचारियों को कुछ ले दे कर तत्काल डिब्बा लेकर उन्हे रेल मे भरकर कलकत्ते कसाई खाने में भेज देते हैं। जहाँ रेल में भर गयीं। फिर कौन पूछता है। गो का स्वामी १०।२० दिन फटफटाता है घूमता है। अत में चुप बैठ जाता है। पहिले गौऐं स्वतन्त्र घूमा करती हैं, अब भी प्रयाग, काशी, कानपुर आगरा आदि

बडे बडे नगरों मे बहुत सी गाये ऐसे ही दिन रात्रि घूमती हैं। बधिक उनको चुराकर उससे लाभ उठाते हैं।

ऐसी ही ३० गौएँ चोरी के सदेह पर प्रयाग स्टेशन पर पकडी गयीं और वे रोक ली गयीं। उनकी सेवा का भार अनायास ही अपने सिर आया। जिस समय वे तीन चार दिन की भूखी प्यासी गौएँ रेल के डिब्बों से उतरीं उस समय की उनकी दशा को देखकर वज्र हृदय पुरुष का भी हृदय बिना पिघले नहीं रहा। वे फाटक खुलते ही अपने आप कूद पडीं। हम उन्हें यमुना जी मे लाये, सब ने ४-४-५-५ बालटी पानी पिया यमुना जी मे स्नान कराया, चारा दिया। एक दिन मे ही वे हमारे परिवार में सम्मिलित हो गयीं हमें पहिचानने लगीं। एकगौ तो जिस दिन आई उसके प्रातः ही ब्याइ पडी। हम सब ने उसका नाम रखा वत्सला। वह अपने बच्चे को अत्यधिक प्यार करती थी आषाढी पूर्णिमा से हमारा गो सेवा व्रत आरंभ हुआ। उसमें नियम था, कि गौ से प्राप्त ही सब वस्तु खाई जायँ गौ का दूध गौघृत दधि मठा पर ही रहा जाय जिसे अन्न खाना हो गो को जौ खिलाकर उसके गोबर में से जो दाने निकलें उन्हे ही खाय। श्री राम स्वरूप दास जी तथा कुछ मातायें ऐसे ही अन्न को खाते थे। मैं बहुत वर्षों से अन्न खाता ही नहीं हूँ, फलाहारी अन्न-कूटू लेता हूँ। कोई गौ खडा साबित कूटू खाती ही नहीं थी। एक वत्सला ही प्रेम से कूटू खाने लगी। उसी के गोबर में से जो कूटू के दाने निकलते वे ही मेरे भगवान् के भोग के काम में आते। इस प्रकार वत्सला का नाम कूटूवाली गौ' भी पड गया।

१०८ दूध देने वाली गौएँ तो प्राप्त न हो सकीं। हमने ऐसी बहुत चेष्टा भी नहीं की। अनायास अपने सहयोगी बन्धुओं के द्वारा ५० के लगभग गौएँ और आई। छोटी बडी सब मिलाकर

सवा सौ से अधिक गौएँ हो गयीं। गो सेवा व्रती भी अधिक नहीं आये जैसा कि हमने समझा था। फिर भी ८–१० तो हो गये। राम स्वरूपराम जी के साथ-गंगादास जी रामदास जी, रामस्मरण दास जी तीन थे, श्री भागवतानंद जी और मौना फलाहारी आन्ध्र के राजू तथा दो चार ऐसे भी थे जो कुछ समय ही रहे इस प्रकार गो सेवाव्रत आरंभ हुआ। शीघ्रता में गोशालायें घर ही जल के नल पानी की चर ही सब बनवाई गयीं। देवशयनी एकादशी से व्रत आरम्भ हुआ। हमने सुविधा के लिये टाट पहिनना आरंभ कर दिया। बाँस के छाते मंगाये तथा उडीसा बंगाल में बाँस के टोप जैसे होते हैं। वे मंगा लिये। जैसे हमारी भावना थी कि चौबीसों घंटे गौओं की सेवा में ही संलग्न रहेंगे, समस्त सेवायें स्वयं करेंगे गौओं के बीच में ही पड़े रहेंगे। उनके जाने पर जायेंगे आने पर आवेंगे। वैसी सेवा तो हम कर नहीं सके। यथार्थ में सेवा तो बनी ही नहीं। इतना ही हुआ ६।७ महीने गौओं के बीच में गौशाला में पडे रहे गौओं को देखते रहे। इसे गो सेवाव्रत न कह कर गो-ईक्षणव्रत कहा जाय तो उपयुक्त होगा। कुछ भी हो वे दिन सुन्दर बीते। अब उनकी याद करके हृदय में हूक-सी उठती है। कैसे प्यारे प्यारे दिन थे वे। गौओं के ही मध्य में रहना उन्हीं के विषय में सोचना उन्हीं का ध्यान करना। अब वे दिन स्वप्न से हो गये।

प्रातः चार बजे ही गौशाला में कोलाहल मच जाता। उठो, सानी लाओ, भूसा क्यों नहीं भिगोया, वह अभी तक सोता ही है, बिजली क्यों नहीं जली। उस सेवक का पता नहीं, गोबर अभी तक नहीं उठा कई महिलायें गोव्रती थीं। सबसे पहिले गोबर उठाने को वे ही आतीं। दिगम्बर बाबा नौका में रहते वे सोचते सबसे पहिले मैं ही गोबर उठा डालूँ। तीन बजे ही वे

बिना वस्त्र के आकर गोबर उठाने लगते। होड़ लग जाती। सूर्योदय के बहुत पहिले सभी गौओं का गोबर उठ जाता। फिर दुहने का लग्गा लगता। दूध मे बडी चसचस। नगर भर मे हल्ला मच गया वहाँ तो मनो दूध होता है, जो चाहो पीओ। दूध के लिये नित्य यहा सुनी, नित्य ही चसचख, मट्ठा माँगने वालों की भीड, वह एक दर्शनीय दृश्य था। कहने से उस दृश्य का चित्र चित्रण हो नहीं सकता। वह तो देखने की ही वस्तु थी। कुछ व्रतियों के साथ वैतनिक सेवक गौओं को खोलकर चराने ले जाते, हम पूजा करके पीछे से जङ्गल में चराने के स्थान पर पहुँचते।

कभी वट के नीचे बैठते, कभी आम्र के और कभी महुए के। अधिकतर तो महुए के नीचे ही बैठक होती। गो रक्षण के साथ कृषिका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। कृषि न हो तो गो रक्षण हो ही नहीं सकता। अतः रेल के किनारे किनारे जो रेलवे की परती भूमि पडी थी, उसमें पचासों बीघे हमने बाजरा की खेती भी कर ली थी। उन सब खेतों को देखते देखते हम गौओं के बीच मे मधुपवन में पहुँचते। वहाँ कथा होती। तभी तक उर्मिला आदि दूध, मठा लेकर पहुँच जाती। सभी समुपस्थित श्रोता, सेवक, दर्शक मट्ठापान करते कोई दूध पीते। मट्ठा बढ़ाने में तो कोई असुविधा थी ही नहीं। नमक बढ़ाते चलो, दैदनादन पानी जब तक सफेदी रहे पानी बढ़ाते रहो। सायकाल वहीं वन मे कथा होती, कीतन होता। रेलका किनारा होने से-स्टेशन के संनिकट होने से-प्रयाग से भी प्रायः नित्य बहुत से दर्शक आ जाते थे। एक कुतूहल था। चलो देखें ब्रह्मचारी जी कैसे गौ चराते हैं, टाट पहिन कर लकुटि लेकर बाँस का छत्ता लगाकर वे कैसे लगते हैं। नंगा रहने से शरीर काला पड़ गया था, दुर्बल भी होगया था, किन्तु मन मे मोद था, खेद यही था कि यह सेवा नहीं ढोंग हो रहे हैं। शरीर

से गौओं की सेवा तो कुछ होती नहीं। चराने वाले चराते हैं हम तो वन में वृक्ष के नीचे बैठकर बातें बनाते रहते थे, आज्ञा चलाते रहते थे।

सायंकाल को गौओं के पीछे पीछे आते थे, वह शोभा अवर्णनीय थी। फिर दुहो फिर बाँधो चलियो रे, लइयोरे वह बछड़ा पी गया, उस गौ ने दूध नहीं दिया। रात्रि ९-१० बजे तक यही हल्ला मचा रहता था।

सब गौएँ चरने गयीं, किन्तु वत्सला ने पैर नहीं रखा उसे मार पीटकर जैसे तैसे ले जाओ, तुरन्त भागकर आश्रम मे आ जायगी। सोचा वत्स के प्रेम के कारण न जाती होगी, एक दिन मैं उसे बाँधकर ले गया साथ मे उसकी बछिया को भी छोटी छोटी दो लडकियाँ बछिया को पकड़े हुए थीं। वत्सला ने सत्याग्रह कर दिया चार डग चले फिर भाग खड़ी हो, फिर दौडकर पकड़े वह सिंहनी की भाँति फुफकार छोड़े। बच्चे को छोडकर भी भाग जाय। उस दिन से नियम ही हो गया वत्सला आश्रम के बाहर न जायगी उसके साथ १०। २० गौएँ और भी आश्रम मे ही रहने लगीं।

हमारी खेती उपज आई थी, अब हमारे लिये कौतूहल हो गया, कितनी खेती बढ़ी आज के अंगुल की हो गयी। एक बार सभी खेतों पर चक्कर लगा आना, उन्हें निराना देखना, पशुओं से रक्षा करना।

बहुत ही छोटी अवस्था मे मैं घर छोड़ आया था। घर पर तो गो पालन खेती की नहीं। कभी स्वप्न में भी ध्यान नहीं था साधुवेष बनाने के पश्चात् भी कृषि, गो रक्षा और वाणिज्य भी करना पड़ेगा किन्तु भावी को कौन मेट सकता है, प्रारब्ध को

अन्यथा करने की शक्ति किसमें है। यद्यपि वह एक प्रकार का खेल ही था। खेत कुछ अपने नहीं थे, गौएँ भी सेवा के लिये रखी थीं पुस्तकों का व्यापार भी कुछ व्यापार की दृष्टि से नहीं है, फिर भी काम तो सब वे ही हैं।

हमारी खेती बढने लगी, गौओं का वश भी बढने लगा साथ ही हमारा उत्साह भी बढने लगा। बिना पैसा के कार्य आरम्भ कर देना यह मेरे कोई नक्षत्र मे ही है, चिन्ता रहती तो यही कि आज चूनी नहीं आज खल। नहीं आज चारा नहीं। जब भी गाड़ी अटकती भगवान् कहीं न कहीं से भेज देते। ऐसे कार्तिक शुक्ला गोपाष्टमी तक बडी धूमधाम से यह नाटक चला। गोपाष्टमी के दिन प्रयाग नगर में गायों की शोभा यात्रा निकली। वह दृश्य तो अवर्णनीय है। समाचार पत्र वालो ने यही लिखा कि प्रयाग मे जैसे भरतमिलाप का दृश्य होता है वैसा ही था।

देवोत्थान से गायों का दान आरम्भ हुआ। बहुत देखकर पहुँच परिचय प्राप्त करके, उनसे प्रतिज्ञा कराके कि गौओं को बेचें नहीं। दान देते। इस प्रकार यह क्रम माघ तक चलता रहा। कार्तिकी पूर्णिमा के पश्चात् बहुत से गो सेवक तो व्रत समाप्तकरके चले गये, किन्तु मैं गौशाला मे ही रहा और माघ की पूर्णिमा को जब महाकुम्भ का उत्सव समाप्त हो गया तब अपनी कुटिया मे आया। गौएँ अब भी ५० । ६० शेष थीं। इस भय से किसी को देने का साहस भी नहीं पडता था कि सेवाभाव तो लोगों में रहा नहीं–दूध वाली गौओं को तो सब छाँटकर ले गये, अब बिना दूध की या ऐसी वैसी रही हैं उन्हें किसी को दे दे तो वे इर फिर कर कसाइयों के ही हाथों पड जायँगी। बहुत से दूध न देने वाली गौ को बेचते तो हैं नहीं वैसे ही छोड देते हैं। उन्हें भी कसाई चोरी से–या पशु कारावास–कानी हाउस के द्वारा ले जाते हैं।

महाकुम्भ के अवसर पर गो प्रदर्शिनी, गोहत्या निरोध सम्मेलन हुआ। उसमें सरकार को चेतावनी दी गयी कि यदि उसने जन्माष्टमी तक वैधानिक रूप से गोहत्या बंद न की तो हम इसके लिये प्रबल आन्दोलन करेंगे कुछ सक्रिय सत्याग्रह आदि करेंगे। अपने मे उतनी आध्यात्मिक शक्ति नहीं कि यहाँ बैठे बैठे सभी को प्ररित कर दे, इसलिये जन जागरण के लिये सभी प्रान्तो में जाना आवश्यक हुआ। इसीलिये कुंभ मेले के पश्चात् ही महाशिवरात्रि के दो दिन पूर्व हम यात्रा के लिये निकल पड़े।

यद्यपि मेरा ऐसा नियम सा था कि प्रायः तीर्थयात्रा के ही लिये कहीं जाना। नेतागीरी करने किसी उत्सव आदि में जहाँ तक हो न जाना। तीर्थयात्रा प्रसङ्ग मे कहीं उतरना हो उतर पडे। हमारे यहाँ तो कोई ऐसा प्रात नहीं जिसमें तीर्थ न हों। भारत भूमि में पग पग पर तीर्थ हैं, इसलिये अबकी यात्रा में तीर्थों का लक्ष्य अवश्य रहा किन्तु मुख्य उद्देश तो गोरक्षा के लिये जन जागरण ही था। यहाँ से पटना, नैपाल, रिक्सौल, सीतामढ़ी, जनकपुर, मुजफ्फरपुर, पटना, आरा, गया, और भागलपुर, इतने तो विहार के मुख्य मुख्य स्थानों मे गये। बगाल मे कलकत्ते मे ही रहे; आसाम मे गोहाटी, शिलाग, कामाक्षा, डिब्रूगढ और तिनसुखिया वायुयान से गये। उत्कल उडीसा प्रान्त में श्री जगन्नाथ पुरी, साक्षीगोपाल, भुवनेश्वर, कटक, संभलपुर, और झार छोकरा में गये। फिर कलकत्ते से कानपुर होते हुए परसों प्रयाग पहुँचे।

कहाँ गोपाल का जीवन कहाँ आधुनिक जन्तु नेता का तूफानी दौरा आकाश पाताल का अंतर। वैसे तो परमज्ञानी परमहंस तथा भगवत्भक्त को छोड़कर ऐसा कौन होगा जिसे कीर्ति प्रतिष्ठा

तथा नाम की आकांक्षा न हो। किन्तु मैं सत्य कहता हूँ इस प्रकार की नेतागिरी की दौड़धूप और अशान्ति का जीवन मुझे प्रिय नहीं है। जैसे किसी का अर्श-बवासीर-का रोग हो और शौचालय दुर्गन्ध पूर्ण हो, फिर भी उसे इच्छा न रहने पर नाक मूँदकर बहुत काल तक शौचालय में बैठा ही रहना पड़ता है, उसी प्रकार मुझे भी विवश होकर प्रारब्ध वशात्-ये सब बाह्य प्रवृत्ति और प्रपंच के कार्य करने ही पड़ते हैं न भी करना चाहूँ, तो मन मानता नहीं अवश हूँ, विवश हूँ कोई बलपूर्वक कराता है। यदि यह मेरा दस्यु लुटेरा कीर्ति लोलुप मन है तब तो नीचे ले जायगा और यदि इसमें प्रभु प्रेरणा है तो जो भी उनकी इच्छा हो।

भागवती कथा के पाठक पाठिकों का मेरे ऊपर बड़ा रोष है, कि तुम अब 'भागवती कथा' की ओर से उदासीन हो गये हो आगे के खंड छापते नहीं। उनसे मेरा निवेदन है, कि भागवती कथा आर्थिक संकोच के कारण नहीं छपती। वास्तव में हमारा दिवाला निकलने वाला था, हमने लज्जा के कारण उसे घोषित नहीं किया, किन्तु भगवान् ने हमारी लाज रखली दिवाला निकलते निकलते रह गया। अब हमने ६० खडों तक छापने का प्रबन्ध कर लिया है। बहुत संभव है ५६, ५७, ५८, ५९ और ६० ये पाचों खंड एक साथ ही पाठकों की सेवा में पहुँचे साठ खण्डों में 'भागवती कथा' परिपूर्ण हो गयी। कथा भाग सर्वथा समाप्त हो गया। अब रह गया दर्शन भाग।

यदि गौमाता ने मेरा बलिदान स्वीकार कर लिया और मेरे शरीर का अन्त हो गया तो पाठक इतने से ही संतोष करलें ६० भाग बहुत होते हैं और कथा में भी प्रसङ्गानुसार सभी ज्ञान भक्ति तथा दार्शनिक सिद्धान्त आ ही गये हैं। यदि गौमाता ने मेरा बलिदान स्वीकार नहीं किया और शरीर रहा-भगवान् ने

फिर इसी पचडे मे रहा तब तो आगे के खण्ड क्रमशः निकलते ही रहेंगे। प्रेस का विस्तार होने से आशा है आगे उतनी आर्थिक कठिनाई भी न रहे। किन्तु आर्थिक कठिनाई तो तब तक रहेगी जब तक इसके ग्राहक न बढेंगे। ग्राहक बनते हैं प्रचार से विज्ञापन से दौडधूप से वह मेरा काम है नहीं। मैं किसी से कहूँ तुम मेरी लिखी पुस्तकें पढो ग्राहक बनो तो यह लज्जा की बात है मुझसे होगा भी नही अच्छा जो भगवान्‌को करना होगा वही होगा, आगे की क्या सोचे। पाठक यही संतोष करें कि भागवती कथा भाग लिख गया और मेरे जीवन में ही वह छप भी गया आगे की किसने देखी है।

मैं युक्त पुरुष नहीं सुखी नहीं युक्त तो इसलिये नहीं कि मैं काम क्रोधोद्भव वेगों को रोकने मे समर्थ नहीं। सुखी इसलिये नहीं कि जैसा सदाचार पूर्ण भक्तिमय प्रेममय जीवन बिताना चाहता हूँ, वैसा बिता नहीं पाता * उसकी छाया भी नहीं। जीवन मे तितिक्षा नहीं भोग लालसा है पूर्ण सत्यता नहीं। दम्भाडंबर है। दृढ भगवत् विश्वास नहीं। आँख मींचकर मझधार मे उन्हीं के सहारे नौका छोड दी है। अनुकूल विपरीत परिस्थितियो से हृदय धक धक करता है, किधर बहा ले जायँ, किस किनारे पर ले जाकर वे लगावें, वे ही जाने। परन्तु इन बातों से भागवती कथा के पाठकों से क्या प्रयोजन। यह मेरा पुराना रोना है—राज-

* शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीर विमोक्षणात्।
काम क्रोधोद्भवं वेगं सयुक्तः स सुखी नरः
(गीता)

रोग है।

गौएँ अब भी छोटी बडी ५० के लगभग थीं। न रहने पर उनकी चिन्ता रहती। इसीलिये अबके सीधे कानपुर की गोशाला को कानपुर से १० मील दूर—भौंतीग्राम में—अवस्थित है। वहाँ

प्रबन्ध मुझे संतोषजनक दिखायी दिया कई सौ बीघा खेती होती है, दुग्ध का भी समुचित प्रबन्ध है, इसीलिये गौओं को वहाँ भेजने का निश्चय किया। जिस दिन गाएँ आई थीं उस दिन आते ही वत्सला बछिया से ब्याई अब जब गौएँ विदा होने लगी तब भी दुबारा वत्सला बछिया से ब्याई।

कल पाँच ट्रक मँगायी छोटी बडी लगभग ४० गौओं को लादकर कानपुर को विदा किया। विवाह कर परिवार में से जैसे लड़की विदा होने पर संपूर्ण घर सूना सूना दीखता है वैसे ही आज आश्रम सूना सूना दीख रहा है, हृदय भर रहा है। आश्रम में रहने वाले ८-१० गौओं को छोड़कर सब चली गयीं एक दिन सभी को जाना है सभी से बिछोह होना है। सदा साथ कौन रहेगा। राजाओं के राज्य चले गये, जमींदारों की जमींदारी चली गयीं कभी इन मंत्रियों का मंत्रीपन भी चला जायगा। ये भी कभी ऐसे ही मारे मारे फिरेंगे। इस सदा चलते रहने वाले संसार में स्थायी क्या है। धर्म स्थायी है। जो धर्म कर लेगा। सभी धर्मों की मूलभूत गौकी जो जितनी ही अधिक सेवा कर लेगा, उसके लिये प्राणों का उत्सर्ग कर देगा वही उसका रह जायगा, नहीं यह शरीर तो एक दिन नष्ट होना ही है। भगवान् करे हमारे द्वारा किसी का अहित न हो, सभी कुशल से रहें, गौओं का रक्षण हो, देश से गोवध बन्द हो। यही मेरी राम कहानी है, यही गो सेवा व्रत का उपसंहार है। अब भाग्य कहाँ ले जाता है, कहाँ कहाँ की ठोकरें खानी शेष हैं। कारावास में जाते हैं या गोली से मरते हैं इसे गोपाल ही जानें।

यशोदा मैया! पूतना से भयभीत कृष्ण की तुमने गोरज और गो पुच्छ से गोविन्द के नाम ले लेकर रक्षा की थी। माँ कृष्ण को तो दबाया नहीं था भूठमूठ तुम्हें संदेह ही हो गया था, किन्तु इस वासनारूपी डाइन ने मुझे तो सचमुच ही दबा रखा है। माँ गौ पुच्छ से मेरी भी रक्षा कर दो मेरे अङ्गों को भी गोरज से

स्नान करा दो मुझे भी अभय बना दो। कहाँ हो मैया ! आ जाओ। गैया आज दुःख पा रहा हैं, तड़प रही हैं, बिलबिला रही हैं। उनकी ओर भी देखो और इस नीच वासनापूर्ण बालक की भी ओर निहारो।"

छप्पय

यशुमति मैया ! आइ अधमकूँ अबसि उबारो।
भरे वासना बीज तिनहिँ अब जननि निकारो ॥
मैया ! गैया बचें सबनि की रक्षा होवै।
भारत धेनु कलंक कालिमा सब अब धोवै ॥
यशादा ! धनदा ! बुद्धिदा, माता हिय चिपकाइलै।
कटीं बहुत दिन गाय अब, गोवध-बंद कराइलै ॥

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग) { वत्स-
चैत्र-कृष्णा १० । २० १० वि० प्रभुदत्त

तत्वों की संख्या में मतभेद का कारण ।

(१३०१)

परस्परानु प्रवेशात्तत्वाना पुरुपर्षभ ।
पौर्वापर्यप्रसख्यान यथा वक्तु विवक्षितम् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २२ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

अट्ठाइस प्रभु कहे तत्व कछु चार बतावैं ।
कछु नौ, छै, छब्बीस, सात, पच्चीस गिनावैं ॥
क्यों इतनो मतभेद रहस का जाके भीतर ।
उद्धव शङ्का सुनी विहँसि के बोले यदुवर ॥
विज्ञ विप्र जो कछु कहैं, युक्ति युक्त सब तात है ।
मेरी माया मह कहो, कौन असंभव बात है ॥

जितने वाद विवाद हैं सब अज्ञान जनित हैं। लोग कुछ से कुछ समझ लेते हैं इसीलिये लड़ने लगते हैं। किसी से कहो मेरे पिता की पत्नी, तो वह लड़ने लगेगी उसी से कहो माता जी तो

*भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी उद्धवजी से कह रहे हैं—"हे पुरुषों में श्रेष्ठ उद्धवजी! ये सब तत्व परस्पर में मिले जुले रहते हैं, इसी कारण कहने वालों को जिस प्रकार बताना अभीष्ट होता है, उसी के अनुसार कार्य कारण भाव से अथवा इच्छानुसार न्यून अधिक मानने के अभि प्राय से तत्वों की संख्या में इस प्रकार की विभिन्नता दिखाई देती है। यह वास्तविक है नहीं।"

प्रसन्न हो जायगी। किसी को कहो मेरे वहनोई की साली तो अप्रसन्न होगी, उसी से कहो बहिन जी तो प्रसन्न हो जायगी। वास्तव में दोनों का अर्थ एक ही है किन्तु शब्दों के कारण भ्रम-वश क्षोभ हो जायगा, और इसी बात पर लाठी चल जायगी मार पीट हो जायगी।

किसी घर में अपने परिवार के दश आदमी हैं किसी ने पूछा —"आप इतने एक ही घर में क्यों हैं ?"

उनमें से एक कहता है—"दूसरा कोई है ही नहीं।"

वास्तव मे वहाँ एक आदमी दश हैं, वह कहता है कोई दूसरा है ही नहीं। अब लड़ने वाला कहे—"तुम तो झूठ बोलते हो, यहाँ तो दश आदमी हैं, तुम कहते हो कोई दूसरा नहीं।" यह उसके समझने का अन्तर है। यहाँ दूसरे का अभाव बताने से तात्पर्य यह है कि कोई अन्य नहीं है। हम सब एक ही परिवार के घरके लोग हैं। उसने दशों का समावेश एक में ही कर लिया। एक स्थान पर गौ का दही, गौ का घृत तथा गौका मठा रखा है। एक ने पूछा—"यहाँ कितनी वस्तुएँ हैं।"

दूसरे ने उत्तर दिया—"यहाँ तो गव्य है।" अब वह लड़ने लगे कि तुम असत्य भाषण कर रहे हो। एक ही गव्य वस्तु बता रहे हो यहाँ तो दूध, दही, घृत तथा मट्ठा चार वस्तुएँ हैं, यह तो उसके बुद्धि कीनिर्बलता है। कहने वाले ने तो गव्य कहकर दूध दही घृत आदि गौ से उत्पन्न होने वाली सभी वस्तुओं का एक में ही समावेश कर दिया, किन्तु वह इसे बिना समझे झगड़ा करता है। चार कहकर अपने ही मत को पुष्ट करने में एक कहने वाले को झूठा बताता है। इसी प्रकार जितने वाद विवाद झगड़े टंटे होते हैं, केवल बिना समझे बूझे अज्ञान वश होते हैं। यदि सब मे एक तत्व का जिसे बोध हो जाय, वह इन व्यर्थ की बातों में अपना समय व्यर्थ नष्ट क्यों करेगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से तत्वों के विषय में इतना मतभेद क्यों है ?" यह प्रश्न किया तब हँसते हुए भगवान बोले—"उद्धव ! तुम्हें जो मतभेद दिखायी देता है वह ऊपर से ही है, यदि तुम ध्यान पूर्वक देखो तो मतभेद नहीं है।'

उद्धवजी ने कहा—"मतभेद तो महाराज ! स्पष्ट ही दिखायी देता है कोई अट्ठाईस बताते हैं, कोई छब्बीस कोई पच्चीस कोई नौ, छै, चार तथा कोई सोलह सत्तरह तेरह बताते हैं।

भगवान् ने बात पर बल देते हुए कहा—"भैया ! ऋषिगण जो भी बताते हैं सब युक्ति युक्त हैं सब ही यथार्थ है। जितने भी तत्व हैं, सब मे सर्वत्र अन्तभूत हैं, किसी ने किसी मे मिला दिया किसी ने किसी मे। बीस प्रकार के शाक हैं। किसी ने सभी को एक में मिलाकर बना दिया, तो लोग कहते हैं केवल एक शाक' बना था और रोटी। दूसरे ने आलू बैंगन एक में मिला दिये, इसी प्रकार दो दो शाक एक में मिलाकर बना दिये उसके लिये दश प्रकार के शाक हो गये। किसी ने बीसों को पृथक बनाया बीस हो गये। इसी प्रकार सब तत्व सर्वत्र अन्तर्भूत हैं। किसी ने किसी मे मिला दिया किसी ने किसी में। भैया, मेरी माया के लिये कुछ दुर्घट नहीं। मेरी माया मे सब संभव है। माया के आश्रय में सभी कुछ कहा जा सकता है। माया का अर्थ ही ऐसा है। मेरी सत्वादि शक्तियों के कारण ही यह झमेला हो गया है।

उद्धवजी ने कहा—"जगत् का हेतु तो एक ही है, फिर इतना विवाद क्यों ?"

भगवान् ने कहा—"हेतु भले हीएक हो, किन्तु उसेग्रहण करने वाली शक्तियाँ तो भिन्न भिन्न हैं। ब्रह्माजी के पास देवता, असुर, राक्षस तथा मनुष्य उपदेश के लिये गये। ब्रह्माजी ने 'द द, द' यह

तीन वार कह दिया। एक ही 'द का अर्थ किसी ने दम लगाया किसी ने दान लगाया किसी ने दया लगाया। अपनी प्रकृति के अनुसार जिसने जो निश्चय कर लिया है, वह भिन्न भिन्न प्रकृति वालों से लड़ता है। एक कहता है—'मैंने जैसा कहा है वही सत्य है।"

दूसरा कहता है—"तुम्हारा कहना सत्य कैसे है, मेरा कहना सत्य है। तुम्हारा कथन सर्वथा मिथ्या है।" तीसरा कहता है—"तुम दोनों ही मिथ्या कह रहे हो, कथन तो मेरा सत्य है तुम लोग भ्रम में हो।" इस प्रकार जगत् के हेतु के सम्बन्ध में भाँति भाँति से वाद विवाद करते हैं लड़ते झगड़ते हैं। इसका कारण मेरी सत्वादि शक्तियाँ ही हैं। उन्हीं शक्ति के क्षोभ से यह विकल्प रूप प्रपञ्च वादी प्रतिवादियों के लिये समर क्षेत्र बन गया है। सभी आ आकर अपना बल पुरुषार्थ दिखाते हैं। अपने अपने अभिनय का इस रंग मंच पर आकर प्रदर्शन करते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"यह मतभेद वाद विवाद किसी प्रकार शान्त भी हो सकता है ?"

भगवान् ने कहा—"हो क्यों नहीं सकता यदि वाद विवाद करने वालों की इन्द्रियाँ वश मे हो जायँ, चित्त शान्त हो जाय वे शम दम का आश्रय ग्रहण कर लें तो वाद विवाद अपने आप शान्त हो जायगा। यह तो मन और इन्द्रियों की चंचलता से ही वाद विवाद तथा लडाई झगडा होता है। यह विकल्प रूप प्रपञ्च तभी तक है जब तक चित्त चंचल है, चित्त के स्थिर होने से यह रहता ही नहीं फिर वाद विवाद किसके लिये होगा ?"

उद्धवजी ने कहा—"तो तत्वों की निविधता का मुख्य कारण क्या हुआ ?"

भगवान् ने कहा—"मुख्य कारण क्या है, कहने वाले की इच्छा। तत्व तो सब मिले जुले हैं ही जैसे मिट्टी और घड़ा। घड़े

मे भी मिट्टी है और मिट्टी से ही घडा बना है। कहने वाले को जो अभीष्ट होगा, उसी के अनुसार वह एक दूसरे में मिलाकर सख्या बतावेगा, अथवा उसकी इच्छा होगी भिन्न भिन्न करके बतावेगा। भिन्न भिन्न करके बतावेगा, तब तो तत्वों की संख्या अधिक हो जायगी और जब एक दूसर में मिलाकर बतावगा तो सख्या न्यून हो जायगी। कार्य कारण में अभिन्नता होती है। सूत्र कारण है वस्त्र का कार्य है मिट्टी कारण है, घडा सकोरा आदि मिट्टा से पात्र कार्य है। बीज कारण है, वृक्ष उसका कार्य है, पिता कारण है, पुत्र उसका कार्य है। इसी प्रकार कारण तत्व अथवा कार्य तत्व में एक एक में दूसरे दूसरे तत्व भी सम्मिलित दृष्टि गोचर होते हैं इसीलिय कार्य-कारण रूप से तत्वों में न्यूनता अधिकता प्रतीत होती है। जिसने प्रबल युक्ति देकर जिसे जिसमें अन्तभूत करके तत्वो की जितनी सख्यायें स्थिर कर दीं वे उतनी ही युक्ति सगत दिखायी देती हैं। उनके अनुयायी उन्हें ही स्वीकार कर लेते हैं। इसी क्रम से मिला लो। कोई किसी को स्वतन्त्र मान लेते हैं कोई किसी का दूसरे मे समावेश कर लेते हैं। जैसे पच्चीस तत्व मानने वाले हैं। वे प्रकृति, पुरुष, महत्तत्व अहतत्व और मन पाँच तो ये हुए, पञ्च महाभूत, पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ, और पॉच कर्मेन्द्रियाँ और पचतन्मात्रायें इस प्रकार पॉच पॉच के पॉच गण होने से पच्चीस तत्व हुए। ये लोग सत्व, रज, और तम इन तीनों गुणों को प्रकृति के अन्तर्गत मान लेते हैं क्योंकि तीनों गुणो का साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है। इसलिये उन्हें तत्वो मे नहीं गिनते जो पृथक मानकर गिनते हैं उनके मत में अट्ठाईस तत्व हो जाहेंत।

जो पच्चीस तत्व मानते हैं, वे आत्मा और परमात्मा में अणुमात्र भी भेदभाव नहीं मानते इसीलिये वे किसी पुरुष की विशेष कल्पना नहीं करते। प्रकृति का जो सत्वगुण है उसी के व्यापार

का नाम ज्ञान है। रजोगुण के व्यापार का नाम कर्म और तमोगुण का व्यापार है अज्ञान। जब इनकी साम्यावस्था रहती है, उसी का नाम शुद्ध प्रकृति है, जब इनमे क्षोभ होता है कुछ विषमता होने लगती है, तो उस विषमता के हेतु का ही नाम काल है क्योंकि काल पाकर ही तो विषमता होती है, समता से विषमता हो जाना इस स्वभाव को ही महत्तत्व कहते हैं। मेरे मत में सत्व, रज, और तम ये तीन गुण पृथक् हैं इसलिये पच्चीस में ये तीन और मिला देने से अट्टाईस तत्व हो जायँगे। अब तुम फिर से संख्या जोड़ लो। पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व, अहंतत्व, पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इस प्रकार नौ तत्व तो ये हुए। अब पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, जैसे आँख, कान, नाक रसना और त्वचा। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, जैसे हाथ, पैर, वाणी, गुद और उपस्थ। ये दश तो बाह्य करण हैं, मन अन्तःकरण की एक वृत्ति है, वह भी इन्द्रिय ही है। वह उभयात्मक है। ज्ञान के समय ज्ञानेन्द्रियों में मिलकर मनन करता है कर्म के समय कर्मेन्द्रिय से कर्म कराता है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय हैं। जैसे शब्द यह कर्णेन्द्रिय का विषय है, स्पर्श त्वचा का विषय है, रूप देखना यह चक्षुओं का विषय है, रसका स्वाद चखना यह रसनेन्द्रिय का विषय है और सुगन्ध दुर्गंध सूँघकर उसका निर्णय करना यह घ्राणेन्द्रिय का विषय है। इस प्रकार शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाँच विषय हैं इन्हें तन्मात्रा भी कहते हैं। कर्मेन्द्रियों के भी पाँच कर्म हैं। जैसे लेना उठाना धरना शिल्प आदि कर्म ये हाथों का कर्म है। चलना पैरों का कर्म है, बोलना व वाणी का मूत्रादि त्यागना मूत्रेन्द्रिय का मल त्यागना मल इन्द्रिय का काम है। इस प्रकार मूल में अट्टाईस तत्व हैं। इन्हीं को घटा बढ़ाकर कोई कुछ मानते हैं कोई कुछ। तीनों गुणों का प्रकृति में ही समावेश कर दिया तो पच्चीस ही हो गये।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् अट्ठाईस और पच्चीस की बात तो समझ में आ गयी अब यह बताइये छब्बीस तत्व मानने वाले कौन सा तत्व विशेष मानते हैं।"

भगवान् ने कहा—"पच्चीस तत्व मानने वालों के मत मे, तो प्रकृति जड है, पुरुष चैतन्य है, किन्तु निष्क्रिय है, स्वतः वह करने में समर्थ नहीं। प्रकृति भी अकेली कुछ कर नहीं सकती। क्योंकि उसमें चैतन्य नहीं। यदि दोनों का संयोग हो जाय तो कार्य होने लगे। जैसे किसी उद्यान मे सुन्दर सुन्दर आम पके हुए हैं। एक अंधा वहाँ बैठा हुआ है और एक लूला। अन्धे को आमों की सुगन्ध आ रही है, किन्तु उसे आम दीखते नहीं। लूले को आम दीख तो रहे हैं, किन्तु वह अपने स्थान से उठकर तोड नहीं सकता। दैवयोग से दोनों का संयोग हो गया। लूले ने पूछा—"कहो, सूरदास जी! राम राम क्या हाल चाल है? क्या सोच रहे हो?"

प्रज्ञाचक्षु जी बोले—"राम राम महाराज! राम राम धन्य-भाग आप के दर्शन हुए। आप तो मुझे देख रहे होंगे?"

हँसकर लूले ने कहा—"हाँ, सूरदास जी! मैं आप को भी देख रहा हूँ और इन पके पके आमों को भी देख रहा हूँ, जिनकी सुगन्ध से आपकी लार टपक रही है।"

प्रज्ञाचक्षुजी ने दीनता के स्वर में कहा—"भगवान् करे आप का वेटा जीवे। कृपा करके मुझे कुछ आम तोडकर दे दें।"

हँसकर लूले बाबू बोले—'सूरदास जी! बेटा तो मेरे है ही नहीं जिह्वा है सो वह भी आमों के लिये लार बहा रही है। यदि

मैं तोडने मे समर्थ होता, तो अब तक न जाने कितने तोडकर खा लेता।"

अन्धेजी ने कहा—"क्यों क्या है, आपके हाथ नहीं।"

लूले बोले—"हाथ तो हैं, किन्तु दोनों पैरों में से मेरे एक भी पैर नहीं।"

यह सुनकर सूरदास जी हँस पडे और बोले—"राम मिलायी जोडी। एक अन्धा एक कोढी।' कोई चिन्ता नहीं। आप के पैर नहीं किन्तु आँखें तो हैं, मेरे पैर हैं, किन्तु आँखें नहीं। आइये आप मेरे कधे पर बैठ जाइये। बैठकर आम तोडिये। दोनों खायगे।"

यह युक्ति लूले को बहुत सुन्दर लगी वह अधे के कधे पर बैठ गया। आम तोडे और खाये।"

इस कहानी का सारांश इतना ही है, कि दोनों पृथक् रहते तो आम तोडने में दोनो असमर्थ थे। जब दोनों मिल गये तो दोनो ने भर पेट आम खाये। इसी प्रकार पुरुष और प्रकृति जब पृथक् पृथक् रहते हैं तब सृष्टि नहीं। व्यापार नहीं। जहाँ दोनों का संयोग हुआ तहाँ काल पाकर गुणों में क्षोभ होता है सृष्टि होने लगती है। यह सब सृष्टि कार्य प्रकृति का है। पुरुष तो साक्षी रूप में रहता है। अब प्रश्न यह होता है, कि फिर यह होता कैसे है? इस पर वे कहते हैं—कि इसमें मुख्य कारण कर्म है। कर्म अनादि हैं और कर्मों के ही अनुसार ही जीव भोगों को भोग रहे हैं। कर्म ही सब कुछ है। जिसे प्रकृति पुरुष का ज्ञान हो जाता है तब वह इस संसार चक्र से मुक्त हो जाता है, प्रकृति पुरुष के भिन्न ज्ञान का नाम ही मोक्ष है।

अच्छा अब जो छब्बीस तत्व मानने वाले हैं उनका कथन यह है, कि अनादि काल से अविद्याग्रस्त पुरुष को अपने आप आत्म ज्ञान कैसे हो सकता है। जब कर्म अनादि हैं और प्रवाह

रूप से यह जगत् भी अनादि है, तो जहाँ कर्मों में प्रवृत्त हुआ कि फिर प्रवृत्त ही बना रहेगा। प्रकृति तो जड है उसमें ज्ञान संभव नहीं। तुम्हारा पुरुष निष्क्रिय है वह स्वतः कुछ कर नहीं सकता। कर्म जड है उनका कोई नियामक चाहिये। इसलिये कर्म बन्धनों में प्रवृत्त पुरुष को ज्ञानोपदेश देने के लिये किसी तत्व ज्ञानी की आवश्यकता है। इसीलिये वे दुःखादि से रहित स्वतः सिद्ध सर्वज्ञ परमेश्वर को और मानते हैं। इस प्रकार पच्चीस तो वे और छब्बीसवाँ परमात्मा ईश्वर। इस तरह वे छब्बीस तत्व बताते हैं।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! जो सत्रह ही तत्व मानते हैं, उनके मत में कौन कौन से तत्व हैं?

भगवान् ने कहा—"वे लोग पंचभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और पच तन्मात्रायें एक मन तथा आत्मा। उनके मत मे आत्मा ही प्रकृति पुरुष दोनों का अधिष्ठान है उसी से महत्तत्वादि की उत्पत्ति होती है। पंचज्ञानेन्द्रियों में ही पंचकर्मेन्द्रियों का समावेश कर लेते हैं। इस प्रकार वे सत्रह ही तत्व मानते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"जो सोलह तत्व मानते हैं, वे एक किसे कम करते हैं।"

भगवान् ने कहा—"उनके मत मे मन और आत्मा पृथक पृथक् नहीं हैं। आत्मा ही जब इन्द्रियो के साथ कर्मों में प्रवृत्त होता है तो उसकी मन संज्ञा है। विचार करने से बुद्धि और अहङ्कार करने से अहं तत्व। वे लोग आत्मा को ही मन कहते हैं।'

उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो! जो तेरह ही तत्व मानते हैं। उनके मत मे कौन कौन तत्व हैं।"

भगवान् ने कहा—"वे लोग पंचभूतों को मानते हैं और पंच ज्ञानेन्द्रिय। तन्मात्राओं और कर्मेन्द्रिय का समावेश वे ज्ञानेन्द्रियों

में ही कर लेते हैं क्योंकि तन्मात्रायें तो ज्ञानेन्द्रियों का विषय ही हैं कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रिय तथा मन के ही अधीन हैं। अतः इन दश अतिरिक्त ग्यारहवें मन को मानते हैं। एक जीवात्मा और एक परमात्मा इस प्रकार उनके मत मे तेरह ही तत्व हैं। जीवात्मा में ही ये प्रकृति आदि का समावेश कर लेते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! ग्यारह मानने वालों के मत में कौन कौन तत्व हैं ?

भगवान् ने कहा—"वे लोग पंचभूत और पंच ज्ञानेन्द्रियों में ही तन्मात्रा और और कर्मेन्द्रियों का समावेश कर लेते हैं। प्रकृति, पुरुष, महत्तत्व अहंतत्व तथा मन इन सब को आत्मा के ही अन्तर्गत मान लेते हैं। अतः इनके मत में पंचभूत पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक आत्मा इस प्रकार ग्यारह ही मुख्य तत्व हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"नौ मानने वालों के मत में कौन कौन तत्व हैं ?"

भगवान् ने कहा—"उनके मत में महत्तत्व, अहंतत्व, मन और पृथिवी, जल, तेज, वायु, तथा आकाश ये पंचभूत इस प्रकार ये आठ तो प्रकृति और एक आत्मा। इन नौ तत्वों में ही वे सब का समावेश कर लेते हैं। उनके मत में इन्द्रियाँ तन्मात्रायें ये सब भूतों से ही होती हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो! जो सात ही तत्व मानते हैं। उनकी संख्या किन किन तत्वों से पूरी होती है ?"

भगवान् ने कहा—"सात तत्व मानने वालों का कहना है कि जब सृष्टि होने को होती है, तब कार्य कारण रूप प्रकृति ही गुणों के विषम होने से सत्वादि गुणों के द्वारा इन सब अवस्थाओं को धारण करती है। प्रकृति का ही यह सब पसारा है अव्यक्त पुरुष कुछ करता नहीं वह तो साक्षीमात्र है। इस पुरुष के केवल ईक्षण मात्र से ही—साक्षी बने रहने मात्र से ही-प्रकृति

के जो महत्तत्वादि कारण तत्व हैं, वे ही परस्पर मिलकर प्रकृति के बल से इस विश्व ब्रह्माण्ड की रचना किया करते हैं इस प्रकार एक तो पुरुष साक्षी हुआ प्रकृति साध्य हुई।इन दोनों का अधिष्ठान परमात्मा है। उनके मत में एक तो परमात्मा है। और एक उस परमात्मा का ज्ञान करने वाला अर्थात् जीव है। दो तो ये और पंचभूत बस, वे सात ही तत्व मानते हैं। उनका कथन है देह, दशों इन्द्रियॉ, दशों प्राण आदि ये सब तो भूतों हो द्वारा ही निर्मित हैं, अतः इन सब दशों इन्द्रियों तन्मात्राओं तथा प्राणादि तो भूतों के ही अन्तर्गत हैं। इस प्रकार पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, जीवात्मा और परमात्म। ये सात ही सत्व मानते हैं।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! जो छै ही तत्व मानते हैं, वे एक किसे घटा देते हैं?"

भगवान् ने कहा—"वे लोग जीवात्मा परमात्मा में भेद नहीं करते। जीव से एक परमात्म तत्व और एक पंचभूत इस प्रकार छै तत्व ही सृष्टि के लिये उनके मत मे पर्याप्त हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! चार तत्व वालों का क्या मत है, क्या वे पंचभूतों को भी नहीं मानते।"

भगवान् ने कहा—"वे लोग इन्द्रियों को तन्मात्राओ को देह, प्राण तथा मन आदि को कार्य मानते हैं। उनके मत में एकमात्र आत्मा से तेज, जल और अन्न ये तीन वस्तुएँ उत्पन्न हुई। आत्मा से सर्व प्रथम तेज उत्पन्न हुआ। उस तेज से जल की उत्पत्ति हुई जल से अन्न हुआ। अन्न से ही फिर यह सब दृश्य प्रपञ्च हुआ।

इस प्रकार उद्धव भिन्न भिन्न मुनियों ने अपने बुद्धि चातुर्य से अनेक प्रकार की कल्पनायें की हैं। सब में युक्तियाँ दी हैं। अपने मत को सिद्ध करने को बडे बड़े प्रमाण दिये हैं। सभी के मत युक्ति संगत प्रतीत होते हैं। मुझे तो इस भिन्नता में अभि-

शता ही दिखायी देती है मेरे मत में तो ये सभी सिद्धान्त युक्ति युक्त होने से सब उचित हैं सब न्याय हैं सभी मान्य हैं, विद्वानों के लिये मुझे तो इसमें कोई अशोभन बात दिखायी देती नहीं। मेरे मत में तो इस विषय में हठ तथा दुराग्रह अज्ञान के ही कारण की जाती है। जिसे जो अनुभूत हुआ है, उसने वही कह दिया है।"

हँसकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! यह तो आपने भगवान् के बताये हुए भिन्न भिन्न मुनियों के मत गिनाये। अब मैं यह पूछता हूँ, कि आपने भी तो पुराणों का विधिवत् अध्ययन किया है, आप अपना अनुभव सुनाइये आपके मत में कै तत्व हैं। आपने ये कुछ उडती सी अधूरी अधूरी बातें कहीं ये हमारी समझ में अच्छी प्रकार आयीं भी नहीं। आप अपना मत बतावें।"

गंभीर होकर सूतजी बोले—"महाराज ! यह दर्शन का विषय बड़ा गूढ है। बुद्धि के व्यायाम के लिये इसमें बड़ा विस्तार करना पड़ता है, तभी कहीं तीक्ष्ण बुद्धि वालों को समझ में आता है। यहाँ तो मैं कथा प्रसङ्ग कह रहा हूँ. कथा प्रसङ्ग में इससे अधिक विस्तार हो भी नहीं सकता। यदि आपकी कृपा रही और दार्शनिक विषय सुनाने का आपका आपका आग्रह बना रहा, तो आगे मैं केवल दार्शनिक विवेचन में इसका विस्तार करूँगा। आप ने जो मेरा मत पूछा, तो भगवन् ! सच्ची बात तो यह है, कि मेरे मत में बस, एक ही तत्व है मैं तो इन तत्वों को गिनाने वाले उद्धव को उपदेश देने वाले, टेढ़ी टाँग वाले मुरली बजाने वाले, गोपियों की ओर कनखियों से बार बार देखने वाले इन काले कृष्ण को छोड़कर अन्य किसी भी तत्व को नहीं जानता। मेरे मत में तो बस यह

परमोज्वल, परमस्निग्ध, परममोहक चैतन्य घनसार नीलबाल घनश्याम ही एक परम तत्व है।"

यह सुनकर शौनकजी अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले— "सूतजी ! भगवान् आप का भला करें। हमारा भी यही मत है। सब तत्व इन्हीं श्यामसुन्दर की छाया हैं। हाँ तो आगे उद्धवजी ने क्या पूछा ?"

सूतजी बोले—"भगवन् ! उद्धव जी ने जो आगे पूछा उसे मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

तत्व परस्पर मिले जुले कछु पृथक बनावें ।
कछु एकहि महँ कहँ कछू द्वै चार मिलावें ॥
प्रकृति, पुरुष, महतत्व, अह, मन, मात्रा, इन्द्रिय ।
पञ्चभूत पच्चीस भये अट्ठाइस गुन त्रय ॥
छब्बिस ईश्वर सहित हैं, कहँ भूतइन्द्रिय अलग ।
कहुँ आतमा परमात्मा, एक कह्यो कहुँ सो विलग ॥

प्रकृति पुरुष विचार

(१३०२)

प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ ।
एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २२ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

बोले उद्धव—'तत्त्वज्ञान तो सुन्यो मुरारी ।
प्रकृति, पुरुष को भेद बतावें भवभय हारी ॥
हरि बोले—'है प्रकृति पुरुष महँ भेद परम प्रिय ।
माया तैं जग होहि पुरुष सत चेतन निष्क्रिय ॥
भेद त्रिविध गुन तीन हैं, सब प्रपञ्च इन तैं भयो ।
आत्मा ज्ञान स्वरूप नित, अविकारी वेदनि कह्यो ॥

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में भिन्न भिन्न मुनियों के भिन्न मत हैं। कोइ किसी रूप से बताते हैं, कोई किसी रूप से किन्तु इस विषय में बहुतों का मत एक है कि प्रकृति में गुणो के क्षोभ होने से ही इस दृश्य प्रपञ्च की उत्पत्ति हुई है। कुछ विद्वानों का मत है, सृष्टि न कभी हुई है न है और न आगे होगी। यह सब अज्ञान के कारण अपने

---

* भगवान् श्री कृष्ण चन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"हे पुरुषर्षभ उद्धव ! प्रकृति और पुरुष इन दोनो में विकल्प है। अर्थात् इन दोनो में विशेष भेद है। यह जो सर्ग है अर्थात् प्राकृत प्रपञ्च है वह वैकारिक है क्योंकि यह तीनों गुणों के क्षोभ से ही तो हुआ है।'

मे ही दीख रहा है। ज्ञान हो जाने पर यह दृश्य प्रपञ्च कुछ भी दिखाई न देगा। यह चला न जायगा, चला तो तब जाय जब कुछ हो। यह तो केवल भ्रम था, सो दूर हो जायगा। उनके मत मे सृष्टि उत्पन्न होती ही नहीं। फिर भी वे लोग व्यवहार की सिद्धि के लिये प्रकृति पुरुष को मानते हैं, सृष्टि की एक प्रक्रिया स्थापित करते हैं। प्रकृति और पुरुष ऐसे मिल जुल गये हैं जैसे दूध और पानी। इन्हे कोई भिन्न समझता ही नहीं, किन्तु वास्तव मे ये दोनों ही भिन्न हैं। काई नीर क्षीर विवेकी हँस ही इन्हें पृथक् करके समझा सकता है। जहाँ प्रकृति पुरुष का भिन्न ज्ञान हुआ, तहाँ भ्रम रहता ही नहीं। सृष्टि का सब रहस्य समझ में आ जाता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् तत्वों के विषय म भिन्न भिन्न मतो का समन्वय कर चुक तब उद्धवजी ने पूछा—भगवान्! यद्यपि प्रकृति और पुरुष स्वरूप से भिन्न भिन्न हैं। आपने भी दोनों को पृथक् ही बताया है, किन्तु ये दोनों ऐसे मिल जुल गये हैं, कि इनकी विभिन्नता दिखायी नहीं देती। प्रकृति पुरुष के आश्रय में रहती है, पुरुष प्रकृति के विना कुछ कर नहीं सकता। उसका पुरुषत्व प्रकृति के बिना दिखायी ही नहीं देता। दोनो ही एक दूसरे के आश्रित हैं, अत इनमें भेदभाव प्रतीत ही नहीं होता। प्रकृति में पुरुष और पुरुष में प्रकृति दोनो परस्पर में ऐसे तादात्म्य हो गये हैं, कि दूध शक्कर की भाँति घुल मिलकर एक से हो गय हैं अब आप कृपा करके यह बतावें कि वास्तव म ये भिन्न हैं या केवल कथन के ही लिये इनकी भिन्नता बतायी है। इस विषय मे मुझे बडा सदेह है। जब तक प्रकृति पुरुष का विवेचन हो तब तक तत्वों का भली भाँति ज्ञान कैसे हा सकता है। आप सर्वज्ञ हैं सर्वविद् हैं सब कुछ जानते हैं, समस्त सशयों को उच्छेदन करने में समर्थ हैं कृपा करके

अपने तर्क प्रवीण वचन वाणों द्वारा मेरे हृदय में बैठे हुए संशय रूप सर्प को काट डालिये। संशय को आपने ही रचा है आप ही इसे नाश भी कर सकते हैं।"

भगवान् ने कहा—"मैंने संशय को काहे को रचा है ?"

उद्धवजी ने कहा—"आपने न रचा आपकी माया ने रचा। आपकी माया शक्ति के प्रभाव से ही तो ज्ञान पर अज्ञान का आवरण पड जाता है। फिर वह अज्ञान आपकी ही कृपा कटाक्ष से ज्ञान के उदय होने पर नष्ट हो जाता है। आपकी यह ठगिनी माया ऐसी अचिन्त्य है, कि इसका रहस्य आप के अतिरिक्त कोई अन्य जानता ही नहीं। आप ही इस अपनी अद्‌भुत माया की विचित्र गति को जानते हैं। इसलिये आप ही इसके यथार्थ रहस्य को समझावें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से माया के सम्बन्ध में पूछा। प्रकृति पुरुष के रहस्य को समझने की जिज्ञासा की तब भगवान् हँसते हुए उनसे कहने लगे—'उद्धव! तुमने यह बडा ही सुन्दर प्रश्न किया। प्रियवर! ऐसा प्रश्न मायाबद्ध साधारण पुरुष कभी कर ही नहीं सकता। तुम तो समस्त पुरुषों में श्रेष्ठ हो पुरुषोत्तम हो तभी तो तुम्हारे हृदय में ऐसा गूढ प्रश्न परिस्फुटित हुआ। तुमने जो प्रकृति पुरुष की एकता बताई सो उचित नहीं। प्रकृति और पुरुष में सामान्य भेद नहीं अत्यन्त भेद है।"

उद्धवजी ने पूछा—"क्या भेद है भगवान्!"

भगवान् ने कहा—"प्रकृति कहो, माया कहो, आवरण शक्ति कहो सब एक ही बात है। यह त्रिगुणात्मिका है। इसके गुणों में जब क्षोभ होता है, तभी यह दृश्य प्रपञ्च उत्पन्न होता है। इसीलिये यह प्रकृति प्रपञ्च विकारवान् है क्योंकि क्षोभ—विकार का ही यह परिणाम है।

उद्धवजी ने पूछा—'विकारवान् तो होनी ही चाहिये किन्तु इसमें इतना नानात्व, पृथकत्व कैसे हो गया। भाँति भाँति के भेद कैसे हो गये ?"

भगवान् ने कहा—"यह जो त्रिगुणात्मिका माया है। इसके गुणों का स्वभाव ही है कि जब वे विकार को प्राप्त होते हैं तब नाना रूपों में परिणत हो जाते हैं। यह माया अपने गुणों द्वारा नाना प्रकार की भेद बुद्धि उत्पन्न कर देती है। गेहूँ, चावल, मूँग जब तक अपने स्वरूप में थे तब तीन थे। जहाँ इनमें विकार हुआ। आटा, भात दालका रूप रखा तहाँ इनके अनेकों भेद हो जाते हैं। रोटी, पूडी, दाल, चावल, खिचडी और न जाने क्या क्या। जब तक माया अविकारवती रहती है तब तक इसमें भेद दृष्टि गोचर नहीं होते हैं—जहाँ यह विकारवती बनी तहाँ नाना प्रकार के भेद वाली होकर इस संसार की रचना करती है।"

उद्धवजी ने कहा—"मुख्य इसके कितने भेद हैं ?"

भगवान् ने कहा—"इसके मुख्य तीन भेद हैं, आध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवान् ! यह विषय बड़ा गूढ है। मेरी अल्प मति है, कृपा करके इस विषय को और स्पष्ट करके दृष्टान्त देकर सरलता के साथ समझावें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा देखो, यह तुम्हारी चक्षु इन्द्रिय है। इसमें क्या क्या वस्तुएँ हैं। एक तो चक्षु नामक इन्द्रिय है क्योंकि बिना चक्षु के दिखायी नहीं देता। दूसरी वस्तु है रूप। यदि रूप न हो तो आखें देखें किसे। इसीलिये चक्षु इन्द्रिय की तन्मात्रा रूप है। रूप के बिना चक्षु व्यर्थ है। तीसरी वस्तु है नेत्रों का प्रकाश अर्थात् नेत्र गोलक गत सूर्य का अंश। इन तीनों में चक्षु इन्द्रिय तो अध्यात्म है। अध्यात्म उसे कहते हैं

जिसका आत्मा से सीधा सम्बन्ध हो। आत्मा की शक्ति का नाम अध्यात्म है बाहरी रूप भी सब हैं। चक्षुओं के गोलक भी सब बने हुए हैं, किन्तु चक्षु इन्द्रिय आत्मा की सहायता से उस झरोखे से देखती नहीं सब व्यर्थ है। देवता की शक्ति का नाम अधिदैव है। जैसे चक्षु के अधिष्ठातृ देवता सूर्य हैं, तो सूर्य का जो नेत्र गोलक गत अंश है वही अधिदैव है। भूतों की शक्ति का नाम अधिभूत है। जैसे नेत्र में मुख्य भूत तेज है। तेज के लिये रूप की आवश्यकता है, जितने रूप दिखायी देते हैं ये सब अधिभूत हैं। अब तीन वस्तुएँ हुईं एक चक्षु इन्द्रिय, दूसरा नेत्र में रहने वाला तेज और तीसरा रूप। इन तीनों का ही परस्पर में अन्योन्य सम्बन्ध है तीनों ही एक दूसरे के आश्रय से सिद्ध होते हैं। चक्षु न हो तो रूप तथा प्रकाश व्यर्थ है। रूप न हो तो चक्षु और प्रकाश व्यर्थ हैं, प्रकाश न हो तो चक्षु रूप ये व्यर्थ हैं। इन तीनों के प्रकाशक हैं आकाश में स्थित सूर्य नारायण। वे नेत्र में भी प्रकाश प्रदान करते हैं और रूपों को भी प्रकाशित करते हैं। रात में वे रूपों को प्रकाशित नहीं करते चक्षु में अंश रूप से हैं तो भी दिखायी नहीं देता। और दिन में सब रूपों को प्रकाशित करते हैं, किन्तु अन्धे की आँख में प्रकाश प्रदान नहीं करते अतः रूपों के प्रकाशित होने पर भी अंधा देख नहीं सकता। आँख को तो सूर्य देव से प्रकाश की याचना करनी पड़ती है, किन्तु सूर्य तो स्वयं प्रकाशित हैं। चक्षु, रूप और नेत्र गोलक गत प्रकाश तो एक दूसरे के आश्रय के बिना सिद्ध नहीं हो सकते, किन्तु आकाश स्थित सूर्य भगवान् तो स्वयं सिद्ध हैं। उन्हें सिद्ध करने के लिये किसी भी दीपक आदि के प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती। सूर्य देव चक्षु, रूप और नेत्रगत प्रकाश इन तीनों से पृथक हैं।"

इसी प्रकार तुम आत्मा को समझ लो। ये जो पंचभूत हैं

तथा जितने भौतिक विकार हैं यद्यपि इनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मा नित्य एक रस है ये परिवर्तनशील हैं। आत्मा चैतन्य घन है ये जड हैं। यथार्थ इन सबका आदि कारण तो आत्मा ही है। आत्मा की सिद्धि के लिये अन्य किसी की आवश्यकता नहीं उसी के प्रकाश से ये सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि प्रकाशित हो रहे हैं। वह समस्त प्रकाशकों का प्रकाशक है।

उद्धवजी ने पूछा—"क्या भगवान्! यह अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत चक्षु इन्द्रियों के विषय में है ?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, यह तो सभी में त्रक है। इसी प्रकार सभी में लगा लो। जैसे त्वचा इन्द्रिय है। तो त्वगिन्द्रिय अध्यात्म है वायु अधिष्ठातृ देव होने से अधिदैव है और वायु की तन्मात्रा स्पर्श है अतः स्पर्श अधिभूत है। कर्णेन्द्रिय का अध्यात्म रूप श्रवण है, अधिदैव दिशायें हैं और अधिभूत शब्द है। चक्षु का तो दृष्टान्त में बता ही चुके हैं चक्षु अध्यात्म है सूर्य अधिदैव हैं और रूप अधिभूत है। जिह्वा का रसना अध्यात्म है, वरुण अधिदैव हैं और रस अधिभूत है। नासिका का घ्राणेन्द्रिय अध्यात्म रूप है अश्विनी कुमार अधिदैव हैं और गन्ध अधिभूत है। चित्त का चित्त अध्यात्म है वासुदेव अधिदैव हैं और चेतयित्व अधिभूत है। मन अध्यात्म है, चन्द्रमा अधिदैव हैं मन्तव्य अधिभूत है। अहंकार अध्यात्म है, रुद्र अधिदैव हैं हैं और अहङ्कर्तव्य अधिभूत है। बुद्धि अध्यात्म है, ब्रह्मा अधिदैव हैं और बोद्धव्य अधिभूत है। इसी प्रकार जितने भी पदार्थ हैं सबके अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत ये भेद हैं। ये जितने भी पदार्थ हैं प्रकृति के गुणों में क्षोभ होने के कारण हुए। आदि में त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति से ही सब पदार्थों की उत्पत्ति हुई।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान ! मूल प्रकृति से विकृतियाँ कैसे उत्पन्न हुई ?"

भगवान् ने कहा—"प्रकृति से सर्व प्रथम गुण क्षोम होने पर 'महान्' नाम की एक वस्तु हुई। जिसे बहुत कहते हैं। जब तक गुणों की साम्यावस्था थी, तब तक न्यून अधिक का कोई भेद भाव ही नहीं था। जब गुणों में न्यूनाधिक्य हुआ—क्षोभ हुआ तो एक महान् नाम की वस्तु हुई। सर्व प्रथम तत्व होने से ही उसका नाम 'महत्व' हुआ। प्रकृति में क्षोम काल-कर्म और स्वभावानुसार समय आने पर स्वतः ही होता है। महत्तत्व होने से उसमें मैं हूँ यह अभिमान हुआ। इसीलिये उसका नाम अहंतत्व था। महत्तत्व कह लो बुद्धितत्व ब्रह्मा कह लो एक ही बात है। महत्तत्व के अधिष्ठातृ देव ब्रह्मा हैं। अहंतत्व के रुद्र। इसीलिये रुद्र ब्रह्मा के पुत्र हैं, क्योंकि ब्रह्माजी के पश्चात् हुए। अहतत्व तीन प्रकार का है। एक वैकारिक अर्थात् सात्विक उससे इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव और मन की उत्पत्ति हुई। ऐन्द्रियिक अर्थात् राजस अहंकार इससे इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई और तामस अहंकार से पंचभूतों को। मोह विकल्प तथा भेदभाव का मुख्य हेतु यह अहंकार है। सृष्टि की वृद्धि इसी अहंकार से होती है। अहकार न हो तो सृष्टि बढ ही नहीं सकती। समस्त प्राकृत जग प्रकृति से उत्पन्न हुआ है। पुरुष अथवा आत्मा प्रकृति से सर्वथा भिन्न है।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान् ! यही तो मेरा प्रश्न है मैं यही जानना चाहता हूँ प्रकृति पुरुष में भिन्नता क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"प्रकृति का सब कार्य माया मोहमय है। आत्मा माया मोह से रहित है। प्रकृति प्रपञ्च अज्ञान जनित है, आत्मा ज्ञान स्वरूप है।"

उद्धवजी ने कहा—"आत्मा के विषय में भी तो बड़े वादविवाद

हैं। कोई कहता है आत्मा है कोई कहता है नहीं है। कोई कहता है सगुण है कोई कहता है निर्गुण है। कोई भाव मानते हैं कोई अभाव बताते हैं, कोई सत्य सिद्ध करते हैं, कोई मिथ्या कह कर खंडन करते हैं। नाना प्रकार के मतभेद हैं।"

भगवान ने कहा—"यह वाद विवाद भी भेद दृष्टि के कारण ही विद्यमान है। यह भी माया के ही संसर्ग से है मेरे अंशभूत जीव का जब प्रकृति से संसर्ग हो जाता है तभी यह सब भेद दृष्टि होने लगती है। यद्यपि यह सब व्यर्थ है, किन्तु जब तक पुरुष अपने स्वरूपभूत मुझसे विमुख रहता है, तब तक यह निवृत्त होता नहीं। अतः प्रथम यह निश्चय करना चाहिये प्रकृति और पुरुष दोनों भिन्न हैं। एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। यह भेद ज्ञान जहाँ हुआ, तहाँ सभी वाद विवाद शान्त हो जाते हैं सभी संशय निवृत्त हो जाते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"प्रभो! जो जीव माया से मोहित होकर आपसे विमुख हो गये हैं, उनकी क्या दशा होती है ?"

भगवान् ने कहा—"वे कर्म बन्धनों में बँधकर बार बार मरते हैं बार बार जन्म लेते हैं। कभी उच्च योनियों में जाते हैं, कभी नीच योनियों में जन्मते हैं।'

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान्! वे किस प्रकार उच्च नीच योनियों में जाते हैं, कृपा करके इस विषय को भलीभाँति समझावें प्रभो! जो पुरुष आत्म ज्ञान से सर्वथा शून्य हैं, वे तो इस विषय को समझ ही नहीं सकते। लोग प्राकृत पदार्थों के संयोग से बड़े बड़े आविष्कार करते हैं। किन्तु वे भौतिक पदार्थों तक ही सीमित रहते हैं। आत्म तत्व को जानने वाले तो कोई विरले ही होते हैं, इस लोक में आत्म तत्व के ज्ञाता तो प्रायः नहीं के ही बराबर हैं। क्योंकि हम जिसे भी देखते हैं वही आपकी मोहिनी माया के चक्कर में फँसा है। कोई मोटी माया के चक्कर

में कोई पतली के। कोई स्थूल माया में बँधा है कोई सूक्ष्म में कृपा करके मुझे जीवों की गति बताइये और आत्मतत्व का उपदेश कीजिये।

यह सुनकर भगवान् बोले—"अच्छी बात है उद्धव ! अब मैं तुम्हें जीवों की गति ही समझाता हूँ, यह विषय बड़ा गूढ़ है। चित्त तनिक भी चंचल हुआ तो फिर बात समझ में न आवेगी अतः ध्यान पूर्वक सुनना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब भगवान् ने भगवान् से विमुख कर्मों के अधीन पुरुषों की गतियों का जो वर्णन किया उसे आप भी सुनें।"

छप्पय

उद्धव पूछैं—"प्रभो ! विमुख जो तुम तैं प्रानी।
का तिनकी गति होहि कर्म के जे अभिमानी ॥
आतम ज्ञान तैं रहित पुरुष यह भेद न जानें।
जग प्रपञ्च महँ फँसे देहकूँ सब कछु मानें ॥
फँस्यो मोह महँ दयानिधि ! गहे कृपामय तव चरन।
उद्धव की सुनिकें विनय, वनवारी बोले बचन ॥

———

हरि विमुखों की गति

(१३०३)

मनः कर्ममय नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम् ।
लोकाल्लोक प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २२ अ० ३६ श्लो०)

छप्पय

प्रियवर ! मन है करमयुक्त इन्द्रिय तें संयुत।
जीव संग लै फिरै लोक लोकनि महँ इत उत ॥
मनने जो कछु सुन्यो कर्यो तिहि नित्य विचारै।
जाइ जहाँ तहँ रमै पूर्व निज रूप विसारै ॥
अहंकार स्वीकार ही यही जीव को जनम है।
नहीं जीव जनमै मरै, यही, यथारथ मरम है ॥

जीव जब अहंकार के अधीन हो जाता है तब वह मन का अनुगामी होकर नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है। मन

---

*भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! मनुष्यों का मन पञ्च इन्द्रियों से युक्त तथा कर्ममय है। यही मन एक लोक से अन्य लोक में जाता है और जीवात्मा भी उसी का अनुवर्तन करता है।"

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जीव को भोग भुगाता है। मन ने जिन जिन विषयों का स्वाद चखा है, उनका संस्कार उससे सूक्ष्म रूप रखकर लिपट जाता है। उस विषय के न रहने पर भी उसके सूक्ष्म संस्कार मन में लगे ही रहेंगे। अब मन एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाय तीसरे में जाय चौथे में जाय, चाहें जितने शरीरों में जाय, उससे वे भोगे, देखे सुने संस्कार साथ ही जायँगे। यही संसार चक्र है। यदि मायाबद्ध जीव का देहादि में मिथ्याभिमान दूर हो जाय- वह अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाय तो यह संसार का आवागमन सदा के लिये छूट जाता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जब उद्धवजी ने भगवान् से मायाबद्ध जीव की ऊँच नीच गतियों के सम्बन्ध में प्रश्न किया तब भगवान् कहने लगे—"उद्धव ! जीव की उच्चनीच गतियाँ कर्मों के द्वारा होती हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"कर्म कहाँ रहते हैं भगवन् !

भगवान् ने कहा—"कर्मों के संस्कार मन में रहते हैं। बन्ध और मोक्ष का कारण मन है यदि मन विषयासक्त होता है तो संसार के बन्धन में पड़ जाता है, यदि विषयों से विरक्त होकर विशुद्ध बन जाता है तो वही मोक्ष का कारण बन जाता है। इन्द्रियों द्वारा मन जिन जिन भोगों का अनुभव करता है वे विषय मन में समा जाते हैं। मन इन्द्रियों से संयुक्त होकर पाप पुण्य की वासनाओं को लिये हुए एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। जीवात्मा भी मन का अनुसरण करता है।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! मन तो जड़ है। जीवात्मा चैतन्यांश है। उससे सर्वथा पृथक् है, फिर मनका अनुसरण क्यों करता है ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, यह सत्य है कि जीवात्मा मन से

भिन्न है फिर भी वह इस इन्द्रियों से युक्त कर्ममय मन में अह-कार बद्ध हो जाता है। मेरा मन मेरी इन्द्रियाँ इस प्रकार का उसे मोह हो जाता है, इसी मोह से कारण विवश होकर उसे मनका अनुसरण करना पडता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! जब जीव अनेक योनियों मे भ्रमण करता है, तो उसे याद क्यों नहीं रहती। हम तो जितने नगरों मे भ्रमण करते हैं उनकी कुछ न कुछ स्मृति तो रहती ही है।

भगवान् ने कहा—"नहीं, तुम जितना अनुभव करते हो, सब स्मृति तो तुम्हें नहीं रहती। अच्छा रहती हैं तो बताओ आज से मास पूर्व तुमने क्या स्वप्न देखा था।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! स्वप्न की बातें तो याद नहीं हैं।"

भगवान् ने कहा—"इसलिये स्वप्न की बातें स्मरण नहीं हैं कि तुम अन्य आवश्यक बातों में लीन रहते हो। इसी प्रकार यह मन भी कर्मों के अधीन होकर जो जो ससार में देखता है, शास्त्र आदि में सुनता है, उन विषयों का ध्यान करता रहता है। उन कर्मों के भोग में ऐसा तन्मय हो जाता है, कि उसकी पूर्व स्मृति नष्ट हो जाती है। बालकपन में मनुष्य इसी शरीर से न जाने क्या क्या करता है, युवावस्था में वे सब बातें याद नहीं रहतीं। बहुत सी युवावस्था की बातें वृद्धावस्था में याद नहीं रहतीं। इसी प्रकार वर्तमान शरीर में दृढ आस्था हो जाने से तथा विषयों में तल्लीन होने से पूर्व स्मृति नष्ट हो जाती है। यदि मनुष्य को पूर्व जन्मों की सभी बातें स्मरण बनी रहें तो वह विषयों मे ऐसा तल्लीन क्यों हो। शरीर की तो मृत्यु होती नहीं, एक शरीर पचभूतों का था पचभूतों में मिल गया, दूसरा पाँच भौतिक शरीर मिल गया। जैसे एक वस्त्र जीर्ण हुआ दूसरा पहिन

लिया । जीवात्मा की मृत्यु होती ही नहीं । वह अजर अमर है ।"

उद्धवजी ने पूछा—"तब फिर मृत्यु किसकी होती है ?"

भगवान् ने कहा—"किसी भी कारण से पूर्व देह की अत्यन्त निस्मृति का ही नाम मृत्यु है । सोते समय भी देह की विस्मृति हो जाती है, पेड़ आदि से गिरने पर मूर्छा हो जाने पर भी देह की विस्मृति हो जाती है, किन्तु अत्यन्त विस्मृति नहीं होती । सोते समय भी आदमी सुनता है ।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज ! सोते समय तो आदमी कुछ भी नहीं सुनता ।"

भगवान् ने कहा—"नहीं भैया ! सोते समय भी आदमी सुनता है, यदि न सुनता होता तो नाम लेकर पुकारने पर वह उठकर खड़ा कैसे हो जाता सुनता अवश्य है, किन्तु अधिक चिल्लाने से सुनता है इससे उसे शरीर की अत्यन्त विस्मृति नहीं होती । जागने पर उसे सब पुरानी बातें याद आ जाती हैं । मरने पर उसकी पूर्वस्मृति नष्ट हो जाती है यही मृत्यु है ।"

उद्धवजी ने पूछा—"फिर जन्म किसे कहते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"कर्मानुसार, देवता, मनुष्य पशु पक्षी का जो भी शरीर मिल जाय उस देह में तथा उस देह के सम्बन्ध से प्राप्त हुए विषयों में अहता ममता हो जाना उन्हें पूर्णतया अपना कहकर स्वीकार कर लेना यही जन्म है । जन्म से पूर्व जीव का इस देह से कोई सम्बन्ध नहीं था जब देह को प्राप्त करके गर्भ से बाहर आता है तो देह के सुख दुख को अपना मानता है, देह सम्बन्ध से सम्बन्धियों को अपना स्वीकार कर लेता है । ये मेरे पिता हैं चाचा हैं ताऊ हैं, माता, हैं, चाची हैं, ताई हैं, बहिन है । इसी मैं मेरी का नाम जन्म है जिसे देह में तत्सम्बन्धी विषयों में भी ममता नहीं । उसका जन्म ही नहीं ।"

वास्तव में देखा जाय, तो जीव का जन्म मरण ही नहीं। यह तो मानने की बात है। जिसे अपना कहकर स्वीकार कर लिया जिसमें अभिनिवेश हो गया वही जन्म है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मानना ही जन्म कैसे है यह बात हमारी समझ में नहीं आई।"

सूतजी बोले—"महाराज ! वास्तव में तो जीव एक ही है, वही नाना देहों में भोग भोगता है। देह तो स्वय जड़ है मृतक हैं। जो स्वय जड है–स्वय मृतक है उसका जन्म मरण होगा क्या ? जीव अजर अमर है। फिर मृत्यु किसकी जन्म किसका ?"

शौनकजी ने पूछा—'फिर यह जन्मा यह मर गया। ऐसा लोग क्यों कहते हैं ?

सूतजी बोले—"महाराज ! यह तो व्यवहार है। जैसे कोई बैठे बैठे मन से सोचता है, एक बड़ा सुन्दर आम का पेड है, उसपर पके पके अत्यन्त मीठे सिदूरिया आम लग रहे हैं। उसने एक ईंट मारी कई आम गिर पडे। वह ज्यों ही खाने को उद्यत हुआ त्यों ही एक पुत्र ने आकर कहा—"पिता जी क्या सोच रहे हैं चलो भोजन तैयार है अम्मा बुला रही हैं।"

इतना सुनते ही उसका चित्त दूसरी ओर चला गया, उसके जो मनोरथ क आम थे वे नष्ट हो गये। अब वास्तव में न तो आम का पेड़ था न उसपर आम ही थे केवल मन ने कल्पना कर ली। लडके के बोध कराने पर वह मनोरथ नष्ट हो गया। स्वप्न में हम देखते हैं, राजा बन जाते हैं राजाओं के से भोग भोगते हैं हाथी घोडों पर चढ़ते हैं। जहाँ आँखें खुलीं तहाँ न छत्र न मुकुट, न सिंहासन और न राजसी ठाठ। सोता हुआ मनुष्य जिस समय स्वप्न देख रहा था, उस समय तो वह सोलह आने आने अपने को राजा माने बैठा था। स्वप्न में वह अपने को भूल

हो गया था, कि मैं दरिद्र हूँ, अपने पूर्व रूप का विस्मरण हो गया था। किन्तु जगाने पर वह गज पाट, सिंहासन सभी को कल्पित समझकर अपने दरिद्री रूप को ही सत्य समझता है। इसी प्रकार अहंकार के अधीन होकर अपनी पूर्वस्मृति के नष्ट हो जाने पर जिस देह में ममता कर लेता है उसी में फँस जाता है उसी में उसकी दृढ़ आसक्ति हो जाती है, इस विषय में एक दृष्टान्त है।

कोई ज्योतिषी थे। उन्होंने ज्योतिष देखकर यह जान लिया अगला जन्म मुझे कौवा का जन्म लेना पड़ेगा।" इस बात से उन्हें बड़ी ग्लानि हुई। उन्होंने अपने एक मित्र से कहा—"देखो, भैया! मेरी मृत्यु निकट है, मैं अमुक वृक्षपर एक कौए का बच्चा हूँगा। मेरी यह पहिचान रहेगी, कि मेरा एक पर सफेद होगा। तुम मुझे जन्म लेते ही मार देना जिससे मुझे विष्ठा न खानी पड़े।"

मित्र ने कहा—"अच्छी बात है मैं ऐसा ही करूँगा।"

कालान्तर में ज्योतिषी जी की मृत्यु हो गयी। दैववश से उन्हें कौए का जन्म मिला उनके मित्र भूल गये। कौआ बड़ा हो विष्ठा खाने लगा।

एक दिन उनके मित्र किसी काम से जा रहे थे, उसी पेड़ के नीचे से निकले जहाँ इनके मित्र ज्योतिषी कौए की योनि में रहते थे। वहाँ उन्होंने एक सफेद पंख के कौए को देखा। देखते ही उन्हें याद आगयी और वे उसे मारने को उद्यत हुए। तब कौए ने पूछा—"आप मुझे क्यों मारते हैं?"

उस व्यक्ति ने कहा—"मेरे मित्र ज्योतिषी कह गये थे कि मैं ऐसा कौआ बनूँगा मुझे मार देना।"

तब वे बोले—"महानुभाव! आपका कथन सत्य है। मैं हूँ तो आपका मित्र ज्योतिषी ही, किन्तु अब मैं पुरानी सभी बातों

को भूल गया हूँ। मेरी इस कौए के शरीर मे आसक्ति हो गयी है और मैंने कौए क आहारादि को स्वेच्छा से स्वीकार भी कर लिया। अब मेरा जन्म कौए की योनि में हो गया है अब आप मुझे न मारे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब आप सोचें—"उसका कौए का जन्म क्या हुआ जीवात्मा तो वही है जो मनुष्य शरीर में था। मनुष्य शरीर भी पाँचभौतिक और जड था उसी प्रकार यह कौए का शरीर भी पाचभौतिक जड है। मनुष्य शरीर के सम्बन्धों को उनकी बातों को भूल जाना यही मृत्यु है। कौए के शरीर को अपना मान लेना कौए के आचार व्यवहार को स्वीकार कर लेना यही जन्म है। कुछ आदमी विधर्मी बन जाते हैं, अन्य धर्म में चले जाते हैं। विधर्मी होने पर उनका रसरक्त मास मज्जा आदि तो ज्यों का त्यों रहता है केवल विधर्मी आचार व्यवहार को स्वीकार कर लेते हैं। इसीलिये अत्यन्त विस्मृत ही मृत्यु है और अहता पूवक स्वीकार कर लेना ही जन्म है।"

शौनक जी ने कहा—"सूतजी! आपका कथन तो सत्य है, किन्तु ससार मे हमे जो उत्तम, मध्यम, अधम, ऊँच नीच आदि भेद दिखायी देते हैं ये तो सत्य से ही हैं?"

हँसकर सूतजी बोले—"महाराज! यही बात उद्धवजी ने पूछी थी। उसका उत्तर देते हुए भगवान् ने उन्हें समझाया— "उद्धव! तुम इस विषय को गम्भीरता पूर्वक विचारो। देखो, स्वप्न में मनुष्य देखता है, एक बडा भारी भवन है। उसके दो खण्ड तो भूमि के नीचे हैं। पाँच खण्ड ऊपर हैं। बाहर बडा भारी दल्लान है भीतर कई बैठने के बडे बडे घर है। वास्तव में न तो घर है न उसमें ऊपर नीचे बाहर भीतर ही है, किन्तु जब स्वप्न देखता है, तब तो ये भेद यथार्थ ही प्रतीत होते हैं। स्वप्न काल में इस भेद भावों में किञ्चित भी असत्यता प्रतीत नहीं होती।

इसी प्रकार यह मन इन्द्रियों की सहायता से पदार्थों की रचना करता है। भेदभाव से रहित इस आत्मा में ही उत्तम, मध्यम, और अधम की कल्पना करता है। आधिभौतिक आधिदैविक तथा अध्यात्मिक आदि त्रिविध भेद स्थापित करता है। ये सब मिथ्या होने पर भी वाह्य और आन्तरिक सुख का अनुभव करने लगता है। वास्तव में आत्मा तो सुख दुख से रहित है। देहों में परिवर्तन होने को ही लोग जन्म मृत्यु कहते हैं। और यह जन्म तथा मृत्यु प्रतिक्षण होती रहती है।"

उद्धवजी ने पूछा—"प्रतिक्षण जन्म मृत्यु कैसे होती है मनुष्य तो सैकड़ों वर्ष तक जीवित रहता है। वृक्ष सहस्रों वर्ष जीवित रहते हैं। प्रतिक्षण मृत्यु तो होती नहीं।।"

भगवान् ने कहा—" यह विषय बड़ा गहन है, इसे अत्यन्त एकाग्र मन से विचार करो। अच्छा देखो मरने में होता क्या है, एक शरीर बदल जाता है। जन्म में होता क्या है एक नया शरीर मिल जाता है जीवात्मा का तो न जन्म है न मरण। पुराना चला जाना नया आ जाना यही जन्म और मृत्यु है। यह प्रवाह तो निरन्तर लगा ही रहता है। गंगाजी के किनारे बैठो प्रतिक्षण नया नया पानी आता रहता है पुराना पुराना बहता रहता है। मूर्ख लोग समझते हैं, हम कल जिस गंगा जल में नहाने गये थे उसी में आज नहा रहे हैं। उन्हें पता नहीं कल का गंगा जल न जाने कहाँ चला गया। दीपक की लौय है वह प्रतिक्षण में बदलती रहती है। जो लोय उठी वह आकाश में विलीन हो गयी दूसरी उठी, किन्तु वे क्रम बद्ध इतनी शीघ्रता से उठती और विलीन होती रहती हैं, कि मूर्ख लोग समझते हैं। यही दीपक रात्रि भर जल रहा है। वृक्ष में फल है, प्रथम वह छोटा था फिर बदल गया उससे कुछ बड़ा हुआ फिर बड़ा हुआ प्रतिक्षण बढ़ता है, बदलता है, किन्तु हमें उसका परिवर्तन तब प्रतीत होता

है जब वह पक जाता है। इसी प्रकार वृक्ष है बीज से अंकुर हुआ और प्रतिक्षण बढते बढ़ते अन्त में गिर जाता है।

यह काल चक्र अत्यन्त ही वेग के साथ घूम रहा है। इस काल के साथ ही साथ समस्त प्राणियों की आयु और अवस्थाएँ बदलती ही रहती हैं। प्राणियों के शरीरों के परमाणु प्रतिपल बदलते रहते हैं। जो बालक प्रातःकाल है दूसरे ही पल उसके सब परमाणु बदल गये तीसरे पल वे भी बदल गये। अत्यन्त शनैः शनैः बदलने के कारण हम यही समझते हैं कि यह वही देवदत्त है, जिसे हमने कल देखा था। वास्तव में जिस देवदत्त को कल हमने देखा था उसके तो न जाने अब तक कितने जन्म और मरण हो गये। प्रतिपल उसके परमाणु बदलते गये। भ्रमवश हम कल के देवदत्त को आज का कहते हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"महाराज ! यह भ्रम क्यों होता है ?"

भगवान् ने कहा—'यह भ्रम होता है सादृश्य से। एक सी वस्तु होने से मनुष्य को भ्रम हो जाता है। जैसे जल के सब कण एक से हैं। यद्यपि जिस जल में हमने कल स्नान किया था वह न जाने कहाँ चला गया, किन्तु उसके स्थान पर वैसा ही जल और आ गया, इसीलिये हम आज के जल को भी वही जल समझते हैं। रात में जो हमने दीपक की लोय देखी थी, वह जाने कहाँ चली गयी, किन्तु उसके स्थान मे वैसी ही लोय आ जाने से हम रात के ही दीपक को समझते हैं। देवदत्त के कल के शरीर के परमाणु न जाने आज तक कितनी बार बदल गये किन्तु सादृश्य होने से अज्ञानी पुरुष कल के ही देवदत्त को आज भी समझते हैं। यह कहना तथा समझना अज्ञता है, मूर्खता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तो जन्म अज्ञानी पुरुषों का होता है, ज्ञानी का नहीं।"

अपने कर्म रूप हेतु से जन्म नहीं लेता। जीव तो अजर अमर है, उसमें ज्ञानी अज्ञानी का क्या प्रश्न। जीव का तो जन्म होता ही नहीं वह तो नित्य है।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! यह बात मेरी बुद्धि में बैठी नहीं।"

भगवान् ने कहा—"जैसे अग्नि सर्व व्यापक है, क्यों है या नहीं ?"

उद्धवजी ने कहा—"हाँ, अग्नि तो सर्वत्र है ही। अग्नि न हो तो प्राणियों का जीवन ही न हो उदर में भी जठराग्नि है। प्रत्येक काष्ठ में अग्नि व्याप्त है।"

भगवान् ने कहा—"देखो, दो लकडियों को रगड कर अग्नि उत्पन्न होती है, जिसमें उत्पन्न होती है उस अपने आश्रय को जलाकर शान्त हो जाती है, तो क्या अग्नि मर गयी ?"

उद्धवजी ने कहा—"नहीं, महाराज! मरने का तो यहाँ प्रश्न नहीं। सर्व व्यापक अग्नि का काष्ठ मन्थन से आविर्भाव हो गया, फिर अपने अधिष्ठान में—व्यापक अग्नि में—मिल गयी। यह तिरोभाव है।"

भगवान् ने कहा—"इसी प्रकार जीव का समझ लो। देह से संयोग होने से कर्म करने लगता है यही जन्म है। एक शरीर को छोडकर दूसरे मे चला गया यही मृत्यु है। शरीर को धारण करके भी उसकी अवस्थायें बदलती रहती हैं। वैसे तो प्रतिपल शरीर बदलता रहता है, किन्तु देह की नौ अवस्थायें बहुत प्रसिद्ध हैं। प्रतिपल के परिवर्तन को तो ज्ञानी ही अनुभव कर सकता है किन्तु नौ अवस्थाओं का तो सभी अनुभव करते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! वे नौ अवस्थायें कौन कौन सी हैं ?"

भगवान् ने कहा—"प्रत्येक प्राणी की ये नौ अवस्थायें ऐसी हैं, जिन्हें सभी जानते हैं। उनमे सर्व प्रथम है गर्भप्रवेश।"

१—गर्भप्रवेश—"माता पिता के रजवीय का संयोग होने से जो गर्भ रह जाता है, उसी समय उसमें जन्म लेने वाला जीव संस्कार रूप से उसमे प्रवेश कर जाता है। यदि संस्कार रूप से प्रवेश न करे तो गभ की वृद्धि ही न हो। अतः गर्भ प्रवेश के अनन्तर गभ वृद्धि होती है।"

२-गर्भ वृद्धि—"गर्भ वृद्धि को सभी जानते हैं आज एक महीने का हुआ, दो महीने का हुआ। ज्यों ज्यों गभ बढता जाता है, माता के उदर की भी वृद्धि होती जाती है। लोग उदर वृद्धि से ही अनुमान लगा लेते हैं इतने दिन का गभ है। जब गर्भ पूर्ण हो जाता है, ६ वें महीने के पश्चात् १०,११ या इससे भी अधिक महीने में उदरस्थ बालक उदर से बाहर आ जाता है, उसे ही जन्म कहते हैं।"

३-जन्म—"गर्भ पूर्ण हो जाने पर प्रसूति मारुत बालक को गर्भ से बाहर फेंकता है। उस समय माता को बडा कष्ट होता है। जैसे तैसे बालक उदर से बाहर मूर्छित होकर निकलता है। जब तक गर्भ में था, तब तक सब लोग उसे गर्भ कहते थे। आठ महीने का गर्भ है, नौ महीने का गर्भ है, गर्भ पूरा हो गया आदि आदि। जब बाहर आ गया तो उसकी बालक सज्ञा हो गयी। अब उसकी गणना के काल को बाल्यकाल कहने लगे।

४-बाल्यावस्था—"जन्म लेने के अनन्तर जब तक बालक खेलता रहता है उसे बाल्यावस्था कहते हैं। सामान्यतया ५ वर्ष तक बाल्यावस्था है। जब पाँच वर्ष से अधिक हो जाता है, कुछ समझने लगता है, लिखने पढने का अभ्यास करने लगता उसे कुमारावस्था कहते हैं।"

५–कौमार––पाँच वर्ष से लेकर पन्द्रह वर्ष की अवस्था का नाम कुमारावस्था है। यह यौवन और बाल्यकाल की अवस्था का मध्य भाग है। इस अवस्था में न तो बाल्यकाल की भाँति अज्ञान ही होता है और न परिपक्व ज्ञान ही। यह उन्नति की अवस्था है। इसके पश्चात् ही युवावस्था आ जाती है।

६–यौवन––पन्द्रह वर्ष से लेकर चालीस वर्ष तक यौवनावस्था है। इन पच्चीस वर्षों को लोग गधा पचीसी भी कहते हैं। इस अवस्था में अंग अङ्ग से उत्साह निकलता है। भोगों की ओर अधिक रुचि रहती है। युवावस्था का मद प्रायः सभी को चढता है, जिसे न चढे वह या तो नपुंसक है या कोई अलौकिक महा पुरुष। फिर वृद्धि रुक जाती है, शरीर की शक्ति क्षीण होने लगती है यह वृद्धावस्था और युवावस्था के मध्य की अवस्था है, इसे प्रौढावस्था कहते हैं।"

७–प्रौढावस्था––"चालीस पैंतालीस वर्ष के पश्चात् इन्द्रियों की शक्ति में ह्रास होने लगता है बाल पकने लगते हैं दाँतों की जड़ें दुर्बल होने लगती हैं। शरीर में शक्ति रहती है, भोगों को भोगने की सामर्थ्य भी रहती है किन्तु यौवन का सा उत्साह नहीं रहता। उतनी स्फूर्ति नहीं रहती इस अधेड अवस्था में विचार भी प्रौढ हो जाते हैं। ज्यों ज्यों अङ्ग शिथिल होते जाते हैं,

८–वृद्धावस्था––प्रौढावस्था के पश्चात् वृद्धावस्था आती है। साठ पैंसठ वर्ष के पश्चात् सब लोग बुड्ढे बाबा कहने लगते हैं। बाल पक जाते हैं मुख भी पोपला होने लगता है। कडी वस्तु नहीं चबायी जाती। भोग शक्ति भी क्षीण हो जाती है। अब सब उन्हें कूल का वृक्ष, पका फल कहने लगते हैं। जीवन के दिन पूरे करते हैं। पाचन शक्ति मन्द पड जाती है। फिर एक दिन राम नाम सत्य हो जाती है।

९–मृत्यु––जहाँ प्राणों का गति बन्द हुई, जीवात्मा शरीर से

[पृ]थक् हुआ तहाँ सब उस देह को मिट्टी कहने लगते हैं। फिर [इ]स शरीर को घर में नहीं रखते या तो उसे अग्नि में जलाते हैं, [य]ा भूमि में गाड़ देते हैं अथवा जंगल या नदी में फेंक आते हैं। [य]े नौ अवस्थायें शरीर की देखी जाती हैं। जीव तो अपरिवर्तन [श]ील है। वह तो न जन्म लेता है न मरता है और न बालक, कुमार, युवक, अधेड़ या बूढ़ा ही होता है, ये सब तो इस देह की ही अवस्थायें बतायी गयी हैं।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! फिर यह कौन कहता है, मैं बालक हूँ, युवक हूँ, बूढ़ा हूँ। देह तो जड़ है वह कहेगा ही क्या ?"

भगवान् ने कहा—"कहता तो यह जीव ही है, किन्तु शरीर मे मिथ्याभिनिवेश होने के कारण कहता है। जैसे किसी की घर में अत्यन्त आसक्ति है, उसका घर किसी ने नष्ट कर दिया तो वह रोता हुआ कहता है–मैं तो नष्ट हो गया।" यद्यपि कहने वाले से घर पृथक् है। ईंट पत्थर के घर के नष्ट होने से व' नष्ट नहीं हुआ, किन्तु उसने घर में अपना मिथ्याभिनिवेश स्थापित कर रखा है। उसके नष्ट होने पर अपने को भी नष्ट हुआ मानता है। इसी प्रकार जीवात्मा से शरीर भिन्न है ये ऊँची नीची बाल्य कौमार और वृद्धादि अवस्थायें केवल मनोरथ मयी ही हैं फिर भी गुणों के संग से अज्ञान वश इन अवस्थाओं को अपनी मानकर मैं बूढ़ा हूँ मैं युवक हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु, पक्षी, देवता या गन्धर्व हूँ, ऐसा अभिमान करने लगता है। इस अज्ञान के कारण ही नाना योनियों में भटकना पड़ता है। एक योनि से दूसरी योनि में जाना पड़ता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तब तो भगवन्! जीव को सदा भटकना ही पड़ेगा।"

भगवान् ने कहा—"नहीं सदा क्यों भटकना होगा। भटकना

तो तभी तक होगा जब तक अज्ञान है। मिथ्या को अपने सत्य मानकर आरोप किये हुए है, जब विवेक हो जायगा और आत्मा की भिन्नता का यथार्थ ज्ञान हो जायगा तो यह आवागमन नष्ट हो जायगा। अपने को इन सब अवस्थाओं से पृथक् अनुभव करने लगेगा।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् विवेक कैसे हो ?"

भगवान् ने कहा—"विवेक होता है विचार से सब घटनाओं को देखकर उसका विचार करो कि इसका परिणाम क्या है। जीवों की नाना गतियों पर विचार करो। देह और देही का विचार करो तब यथार्थ ज्ञान होगा अब मैं तुम्हें इस विषय को आगे समझाऊँगा।"

सूतजी कहते हैं—"अब भगवान् जैसे सत् असत् के विवेक का वर्णन करेंगे उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

करै स्वप्नमहँ भेदभाव ज्यों बहु विधि प्रानी।
त्यों आश्रय करि करण बनै आत्मा अज्ञानी॥
प्रतिपल होवै जनम मरन मूरख नहिँ जानै।
परिवर्तित तनु होहि अबुध नित नहिँ पहिचानै॥
गरभ, वृद्धि, उतपत्ति, शिशु, कुमर, युवक, पुनि प्रौढ़ वय।
जरा, मरन नव अवस्था, तनुकी जीव सदा अमय॥

सत्-असत् विवेक

[१२०४]

तरोर्बीजविपाकाभ्यां यो विद्वाञ्जन्मसंयमौ ।
तरोर्विलक्षणो द्रष्टा एवं द्रष्टा तनोः पृथक् ॥

(श्री भा० ११ स्क० २२ अ० ४६ श्लो०)

छप्पय

बोयो पौधा भयो काटि कें बीज निकारो ।
द्रष्टा इनतें पृथक जीव त्यों तनु तें न्यारो ॥
प्रकृति पुरुष को भेद समुझि जे नहीं विचारें ।
भटकें योनिनि माँहि, मरें पुनि पुनि तनु धारें ॥
चाईं माईं शिशु करें, कहें भूमि घूमै फिरै ।
त्यों कर्ता नहिं जीव है, भ्रम वश चक्कर महँ परै ॥

एक कहानी है, कि कोई राजा अत्यन्त विषय में फँस गये। उनके गुरु एक दिन आये और बोले—"राजन्! अब आपकी वृद्धावस्था है, आप अपने पुत्र को राज्य देकर तपस्या करने वन चले जाइये।"

राजा ने कहा—"भगवान्! इच्छा तो मैं भी करता हूँ, कि

---

* भगवान् कहते हैं—"उद्धव! जैसे एक बीज है, बो दिया वृक्ष होकर पक गया काट लिया। अब उसकी उत्पत्ति और विनाश को जानने वाला जो व्यक्ति है वह केवल द्रष्टा है साक्षी है, वृक्ष से पृथक् है। वैसे ही इस शरीर का साक्षी आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है।"

किसी प्रकार इस झंझट को छोड़ूँ, किन्तु क्या करूँ, लोग मुझे छोड़ते नहीं। यद्यपि राजकुमार बड़ा हो गया, फिर भी जब मैं जाने की बात कहता हूँ, तो रोने लगता है। रानी तो मूर्छित ही हो जाती है। प्रजा के लोग भी नहीं चाहते। बूढ़े मन्त्री मर गये हैं, उनके स्थान पर जो उनका पुत्र हुआ है, यद्यपि वह बुद्धिमान है, कार्य कुशल है, कार्य वही देखता है फिर भी वह चाहता है मेरा हाथ उसके ऊपर बना रहे। इन सभी कारणों से मैं तपस्या करने नहीं जा सकता। मुझे कोई छोड़ना ही नहीं चाहता। दूसरों को कष्ट देकर तपस्या करने में क्या लाभ।"

यह सुनकर गुरुदेव चुप हो गये, वे समझ गये राजा विषयों में आसक्त होने से अपने कर्तव्य को भूल गया है। ग्रहण त्याग के लिये किया जाता है। जो इस बात को भूलकर ग्रहण की हुई वस्तु में निरन्तर लिपटा रहता है, स्वेच्छा से उसका परित्याग नहीं करता, तो उसे विवश होकर त्याग करना पड़ता है, स्वेच्छा से त्यागने में सुख है, विवश होकर बलपूर्वक परेच्छा से त्यागने में दुःख है। इस राजा को किसी प्रकार उपदेश देना चाहिये।"

यही सोचकर वे कुछ दूर चले गये। आगे एक पेड़ था उसकी उन्होंने भेंट भर ली। और उसे पकड़े रहे। दोपहर को जब वे भोजन करने न आये, तो सब जगह ढूँढ़ मची। लोग राजा के यहाँ आये। राजा ने कहा—"यहाँ से तो वे प्रातःकाल ही चले गये।" किसी ने बताया—"गुरुजी तो उस पेड़ की भेंट भरे प्रातःकाल से खड़े हैं।"

यह सुनकर लोग उनके समीप गये, लोगों ने बहुत कहा—"महाराज! घर चलें भोजन करें।"

वे कह देते—"कैसे चलूँ भाई! चलने की इच्छा होने पर भी मैं नहीं चल सकता। मुझे वृक्ष ने पकड़ लिया है।" सब लोग बहुत समझाते, किन्तु पंडितजी किसी की बात मानते ही

नहीं थे। सब समाचार सुनकर राजा भी वहाँ आये और बोले—"गुरुजी! आप वृक्ष को क्यों पकडे हुए हैं, इसे छोड़ दें।"

गुरुजी बोले—"राजन्! मेरी छोड़ने की तो बहुत इच्छा है, किन्तु मेरी इच्छा से क्या होता है, वृक्ष मुझे छोड़े तब तो मैं छोड़ूँ?"

राजा ने हँसकर कहा—"भगवान्! आपही तो वृक्ष को जेट मे भरे हुए हैं। वृक्ष ने आपको कब पकडा है, आप जेट भरना छोड़ दीजिये, तुरन्त उससे पृथक् हो जायँगे।"

गुरुजी ने कहा—"राजन्! गुरु बनकर जो तुम मुझे शिक्षा दे रहे हो, उसे स्वयं ही क्यों नहीं व्यवहार में लाते। राज्य ने तुम्हें पकड़ रखा है या तुमने राज्य को पकड़ रखा है। तुम हृदय से त्याग की भावना करो आज ही छोड़ सकते हो। बँधे तो तुम विषयों में हो, कहते हो—"मुझे प्रजा ने पकड़ रखा है मेरे बिना राज्य न चलेगा।" अरे, किसी के बिना कोई काम रुक सकता है। करने कराने वाले तो श्री हरि हैं। मनुष्य तो निमित्त मात्र है उसे अपने कर्तव्य से न चूकना चाहिये।"

गुरु की ऐसी शिक्षा सुनकर राजा को ज्ञान हुआ। वे सब छोडकर वन में चले गये।

सूतजी कहते हैं—"इसी सत् असत् के विवेक का उपदेश देते हुए भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! जो जन्मा है वह मरेगा और जो मरा है वह जन्मेगा। इसकी शिक्षा स्वयं ही लेनी चाहिये। अपने जन्म की याद नहीं रहती, किन्तु अपने घर में ही कितने बालकों का जन्म होता है। एक पिता के ही कितने पुत्र होते हैं। पिता को पुत्र पैदा होते देखकर अनुमान लगा लेना चाहिये कि इसी प्रकार कभी हम भी अपने माता पिता से ऐसे ही उत्पन्न हुए होंगे। अपने पिता को सगे सम्बन्धियों को मरते देखकर अनुमान लगाना चाहिये एक दिन

हमारी भी ऐसी ही गति होनी है। फिर विचार करना चाहिये। मृत्यु क्या है। जन्म क्या है। एक शरीर को अहंकार पूर्वक स्वीकार कर लेना जन्म है, पिछले शरीर की बातों को सर्वथा भूल जाना यही मृत्यु है। यह जन्मा यह मरा इसको जानने वाला पृथक् है इसी प्रकार जन्म मरण रूपी धर्मों का ज्ञाता जीव जन्म मरण दोनों से ही रहित केवल साक्षी मात्र है। इस विषय में दूसरा दृष्टान्त लो।

जैसे एक किसान है। अन्न के बीज लेता है, खेत में बो देता है, उनसे अकुर होता है, पेड होते हैं, पक जाते हैं काट लेता है। उत्पत्ति और पक कर काट लेना ये दोनों बातें बीज से हुई। इन दोनों का द्रष्टा कृषक पृथक् है उत्पत्ति और नाश बीज का हुआ। देखने वाला तो उससे सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार जन्म और मरण यह तो देह की अवस्थाएँ हैं इनका साक्षी जीवात्मा तो इन अवस्थाओं से भिन्न है। वह तो द्रष्टा मात्र है। किन्तु जब वह देह मे अहंभाव के कारण अत्यन्त आसक्त हो जाता है, तो जन्म मरणादि अवस्थाओं को अपने मे ही आरोपित करता है।

उद्धवजी ने पूछा—'भगवान्! अहंकार के कारण विमूढ सा बना वह अविवेकी जीव कहाँ कहाँ भटकता है? उसे भिन्न भिन्न योनियाँ कैसे प्राप्त होती हैं?"

भगवान् ने कहा—'उद्धव! नित्य शुद्ध आत्मा में तो आना आना बनता ही नहीं। जब देह के संसर्ग से वह कर्मों को अपने किये हुए मानने लगता है, तो उसे उसका फल भी भोगना पडता है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन! जो मिथ्या वस्तु है उसका फल क्यों भोगना पडता है?"

भगवान् ने कहा—"मिथ्या को जो सत्य मान लेता है, तो

उस मिथ्या वस्तु से भी बहुत से काम होते ह। खेतों मे किसान लोग एक लकड़ ड कर उसे कुता पाहना कर मनुष्य की सी आकृति बना देते है वास्तव में वह मनुष्य नहीं है। किन्तु उस मिथ्या पुरुष को देखकर मृग आदि भाग जाते हैं। रात्रि मे किसी छाया को देखकर भूत का भ्रम हो जाता है जहाँ उसे भूत मान लिया तहॉ उसकी आँखें दाँत तथा अन्य चेष्टायें सत्य सी दिखायी देती हैं। उस मिथ्या छाया से भी भय होता है बहुत से मर भी जाते हैं। इस विषय में एक दृष्टान्त है।

एक व्यक्ति बडा बलवान् था, वह कहा करता था—"मैं भूत आदि किसी को नहीं मानता मेरा भूत क्या कर लेगा।" एक दूसरा युवक था वह बहुत चंचल और हसौड था उसने कहा—"अच्छी बात है जब भूत को देखोगे तब पता चलेगा।"

कुछ काल के पश्चात् उस हॅसोड लडके ने एक भयंकर रूप बनाया। पैरों में बॉस बॉध लिये विकराल रूप बना लिया और वह बलवान पुरुष जिस पेड के नीचे सो रहा था उसी पर से रात्रि मे उतरा। उसने उतरते ही हू हू ऐसा शब्द किया। देखते ही उस बलवान् पुरुष को मूर्छा आ गयी और वह कुछ दिनों में मर गया।"

अब देखना यह भूत तो था नहीं, भूत उस हसोड युवक के शरीर में सर्वथा मिथ्या था, किन्तु उससे मृत्यु हो गयी, भय ज्यादा हो गया। छाया पुरुष की उपासना करने वाले छाया पुरुष को प्रत्यक्ष कर लेते हैं और उस छाया पुरुष से बहुत से काम चला लेते हैं। दर्पण मे मुख दीखने वाला मुख सर्वथा मिथ्या है। किन्तु उसे देखकर तिलक लगा लेते हैं, बाल सम्हाल लेते हैं, दाँतों मे, नाक पर, ऑखों में मैल हो उसे पोंछ लेते हैं, व्रण आदि देख लेते हैं ये सब काम मिथ्या प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, इसी प्रकार जब जीव मिथ्या देह में अहंभाव कर

लेता है, तो उस मिथ्या आरोप से भी वह जन्म मरण के चक्कर में फँस जाता है। जो आत्मा को प्रकृति से पृथक् नहीं मानता, उसके वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचानता। दोनों को एक ही मान कर नियमों मे विमोहित हो जाता है, उसे चौरासी के चक्कर मे फँसना ही पडता है, वह बार बार जन्मता है वह बार बार मरता है। उसे छोटी बडी अनेकों योनियाँ मिलती हैं। कभी देवता बन जाता है, कभी मनुष्य और कभी पशु पक्षी आदि।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान्! ये ऊँची नीची योनियाँ किस कारण से प्राप्त होती हैं?"

भगवान् ने कहा—"ये प्राप्त होती हैं, त्रिगुणों के अनुसार। जिसके जैसे कर्म होते हैं उसे वैसी ही योनियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जीव के भटकने का कोई कारण नहीं। जब वह अपने को कर्मों का कर्ता मान बैठता है, तो अपने कर्मों के अनुसार आवागमन के चक्र में भटकता रहता है। कर्मों के अनुसार फल चखता है। कर्ता पनेका आनन्द लूटता है। सात्विक कर्म करता है तो देवता आदि योनियों को प्राप्त करता है राजस कर्मों के करने से असुर मनुष्य आदि योनियाँ और तामस कर्मों से भूत प्रेत पिशाच सर्प आदि तिर्यक् योनियाँ मिलती हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! एक ओर तो आत्मा को निष्क्रिय बता रहे हैं, दूसरी ओर कहते हैं उसे नाना योनियों में जाना पडता है ये जो कर्म हैं सब मन बुद्धि तथा इन्द्रियों के कार्य हैं, इनमें आत्मा लिप्त क्यों हो जाता है, दूसरों के कामों में क्यों कूद पड़ता है।

हँसते हुए भगवान् बोले—"उद्धव! यही तो मेरी माया है। सभी लोग दूसरों के कामों में कूद पडते हैं। किसी की आँख दुखने आई हो तो उसकी लाल लाल आँखों को देखकर हमारी

आँख भी किरकिराने लगती है। किसी को जमुहाई लेते देखकर हमें भी जमुहाई आ जाती है। किसी को रोते देखकर हमारा भी हृदय भर आता है, किसी को हँसते देखकर हम भी हँसने लगते हैं। किसी को नीबू खाते देखकर हमारी जिह्वा से भी पानी छूटने लगता है, किसी को वैषयिक चेष्टा करते देखकर हमारा भी चित्त चंचल हो जाता है, किसी को गाते देखकर हम भी तान तोड़ने लगते हैं, सिर हिलाने लगते हैं, हाथ पैर चलाने लगते हैं। ये सबके सब दूसरों के काम के काम में कूद पड़ते हैं। इसी प्रकार बुद्धि के गुणों को देखकर आत्मा निष्क्रिय होकर भी इसका अनुकरण करने के लिये विवश हो जाता है। वास्तव में आत्मा में कोई दोष नहीं। वह तो विशुद्ध ही बना रहता है, फिर भी लक्षित ऐसा ही होता है, कि जीवात्मा का जन्म होता है, वही मरता

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान्! यह कैसे हो सकता है, कि जीवात्मा इतनी योनियों में जन्म ले और फिर विशुद्ध का विशुद्ध बना रहे।"

भगवान् ने बात पर बल देते हुए कहा—"अरे, भाई बार बार तो तुम्हें बता चुके। आत्मा न मरता है न जन्म लेता है। जन्मना मरना ये तो देह के धर्म हैं। उसके संसर्ग से अज्ञानियों को वे आत्मा में ही प्रतीत होते हैं। जैसे हम किसी वेगवती सवारी से जा रहे हैं, तो हमें ऐसा प्रतीत होता है, ये वृक्ष भी हमारे साथ साथ दौड़ रहे हैं। वास्तव में वृक्ष दौड़ते नहीं, किंतु संसर्ग से ऐसा भ्रम होता है। छोटे छोटे बच्चे चाईं माईं चाईं माईं कह कर घूमते हैं तो उन्हें ऐसा प्रतीत होता है, मानों हमारे साथ पृथिवी भी घूम रही है। वास्तव में उन्हें घूमने से ऐसा प्रतीत होता है पृथिवी तो अपने स्थान पर ही है। आँख मे उँगली लगाने से दो चन्द्रमा दिखायी देते हैं, किसी सरोवर के

किनारे वृक्ष लगे हुए हैं उनका प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है। जल जब चलता है तो वे प्रतिबिम्बित वृक्ष भी चलते से दिखायी देते हैं। स्वप्न में दीखने वाले पदार्थ मिथ्या हैं, किन्तु स्वप्न में वे सत्य दिखायी देते हैं। मन से कल्पित लड्डू यद्यपि मिथ्या हैं, किन्तु जब एकान्तमें तन्मय होकर उन्हें सोचते हैं तो लड्डुओं का सा ही आनन्द आता है। स्वप्न में खीर मालपुआ रसगुल्ले दीखते हैं। उन्हें खाते हैं तो बड़ा आनन्द आता है। उसी समय तो ऐसा लगता है मानो हम प्रत्यक्ष खा रहे हैं, किन्तु वास्तव में न वहाँ मालपुआ है न खीर और न रस मे डूबे हुए लाल लाल गोल गोल रसीले रसगुल्ले ही। जिस प्रकार मिथ्या होने पर वे उस समय सत्य से लगते हैं, वास्तव में वे मिथ्या ही हैं, इसी प्रकार जीवात्मा विषयानुभव रूप ससार सत्य सा प्रतीत होने पर भी वह यथार्थ में मिथ्या है।

उद्धवजी ने पूछा—"तब भगवान्! इस मिथ्या संसार की निवृत्ति कैसे हो?"

भगवान् बोले—"उद्धव! जब तक काल्पनिक भूत से तुम डरते रहोगे, उसकी चेष्टाओं को सत्य समझते रहोगे, तब तक छाया होने पर भी वह भूत का काम करती रहेगी, भय पहुँचाती रहेगी। जैसे स्वप्न में किसी ने देखा—एक बड़ा भारी सिंह आया है उसने पंजों से पकड़ हमें दाँतों से काटना आरम्भ कर दिया है, स्वप्न में ही हम दुखी हो रहे हैं। यद्यपि स्वप्न का सिंह मिथ्या है। उससे होने वाला दुःख भी मिथ्या है, किन्तु उस दुःख से निवृत्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक हम स्वप्नावस्था का परित्याग करके जाग्रतावस्था को प्राप्त न कर लें। इसी प्रकार यद्यपि वास्तव में कोई अर्थ है नहीं ये संसारी सभी पदार्थ असत् और नाशवान् हैं, फिर भी जब तक मन विषयों में आसक्त है। संसारी विषयों का भोग बुद्धि से चिन्तन

करता रहता है, तब तक संसार की निवृत्ति नहीं हो सकती नहीं हो सकती चित्रकला में भी नहीं हा सकती।

उद्धवजी ने कहा—"यही तो भगवन्! मैं पूछ रहा हूँ, कि फिर निवृत्ति हो कैसे ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, ये जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धा भोग हैं इन्हें इन असत् इन्द्रियों से भोगना छोड दा। छोड क्या दा इनम आसक्ति मत रखो। यह दृढता के साथ निश्चय कर लो कि ये सब भोग्य पदार्थ असत् हैं, एक मात्र आत्मा ही सत् है। इस सम्पूण संसार-भ्रम को आत्म स्वरूप के अज्ञान से ही भासित समझो। जब एक मात्र आत्मा ही सत् है, तो फिर क्षोभ का चिता तथा दु.ख का क्या कारण है। स्व स्वरूप में स्थित हुए पुरुष को किसी भी घटना से क्षोभ नहीं होता।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवान्। जब कोई हमारा अपमान करता है, गाली देता है, कटु वचन कहता है, तब तो चित्त में क्षोभ हो ही जाता है।"

भगवान् ने कहा—'उसी समय तो विचार करने की आवश्यकता है। उस समय सोचना चाहिये इसने किस वस्तु का अपमान किया किसे गाली दी। जैसा किसी ने हमसे 'साला' कहा। अब सोचना चाहिये कि साला किसे कहते हैं। वहू के भाई का नाम साला है। पहिले सोचे गाली देने वाले के बहू है या नहीं। यदि उसके बहू है ही नहीं तो वह हमारी बहिन होगी कैसे ? यदि उसके बहू है, तो सोचना चाहिये बहिन है या नहीं। यदि हमारे बहिन नहीं है, तो फिर बुरा मानने की क्या बात झूठी बात पर क्रोध क्यो ? यदि उसके बहू भी है और हमारे बहिन भी है, तो सोचना चाहिये उसकी बहू हमारी बहिन है या नहीं। यदि बहिन है तो सच्ची बात में बुरा क्या

मानना। यदि वह *बहिन नहीं है।* तो उसे बकने दो, बहुत से लोग झूठ बोलते हैं, उसे भी बोलने दो। फिर हमारे बहिन है तो उसका विवाह किसी के साथ हुआ ही होगा। किसी के साले होंगे ही। जब कोई हमसे साला कहने वाला है ही तो इसमें बुरा मानने की कौन सी बात। आप कहेंगे हम किसी के साले होंगे यह क्यों साला कहता है। तो ससुराल में बहुत से ऐसे लोग होते हैं, जिनके साले नहीं होते वे भी साला कहते हैं और हम हँस जाते हैं। *यदि 'साला' शब्द में ही बुराइ है तो वहाँ* भी क्रोध करना चाहिये।"

इस पर तुम कह सकते हो—"*ससुराल में तो साला प्रेम से* कहते हैं, हँसी करते हैं, इसने तो हमारा अपमान किया, हमें नीचा दिखाने को कहा।"

इस पर विचार करो अपमान किसका करता है। शरीर में दो वस्तुएँ हैं शरीर और आत्मा जड तथा चैतन्य। चैतन्य आत्मा तो मान अपमान से रहित एक अद्वय है उसमें तो मान अपमान संभव नहीं। शरीर तो जड है। जड में क्या मान क्या अपमान। शरीर से जब चैतन्य पृथक हो जाता है, तो इस शरीर को जला देते हैं, फेंक देते हैं इससे बडा और इसका क्या अपमान होगा दो दिन रखा रहे तो *सड जायगा* कीडे पड जायँगे। ऐसे स्वय अपमानित निंदित शरीर का मान अपमान ही क्या। यही सब सोच विचार कर यदि असाधु पुरुष तिरस्कार करें, तो उसे तिरस्कार न समझना चाहिये। अपमान करें तो उसे सह लेना चाहिये, हँसी करें तो बुरा न मानना चाहिये। *निन्दा करे तो हँस जाना चाहिये। मारें तो मार को सह लेना* चाहिये। बाँध दें तो चुपचाप बँध जाना चाहिये। आजीविका से पृथक् कर दें तो *पेट की चिन्ता न करनी चाहिये। शरीर के*

ऊपर थूक दें तो उत्तेजित न होना चाहिये। शरीर पर मल मूत्र त्याग कर दें तो भी मन में रोष न लाना चाहिये।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्। ऐसे अन्याय को चुपचाप कैसे सहा जा सकता है?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भैया सबसे अधिक तो यह जीव ही अन्याय कर रहा है। यह शरीर मिला है, भगवत् चिन्तन के निमित्त, किन्तु इससे करता रहता है सदा सर्वदा विषय चिन्तन। अपने ही कल्याण की चिन्ता करनी चाहिये। अपना कल्याण करने वाला ही जगत् का कल्याण कर सकता है। भीतर की ओर देखने वाला ही सबमें एकत्व का साक्षात् कार कर सकता है। इसीलिये मूर्खों की इन बातों की ओर ध्यान ही न देना चाहिये। अज्ञानियों के द्वारा भाँति भाँति से विचलित किये जाने पर भी अपने धैर्य को न छोड़ना चाहिये। जिसे संसार सागर से पार होने की इच्छा है, जो मोक्ष की इच्छा रखता है उसे स्वय ही ऐसी कठिनाइयों मे पड़ने पर अपने आप अपने विवेक विचार द्वारा ही स्वयं ही अपना उद्धार करना चाहिये। संसारी मूर्ख लोग बकते रहे, स्वयं अपने को भगवान् के भजन में लगे रहना चाहिये। श्रद्धा, विश्वास और धैर्य के साथ क्रोध को जीत कर मेरा ही भजन करना चाहिये।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! आपका कथन है तो बहुत ही सत्य। किन्तु भगवन्! जब दुष्ट पुरुष मर्म स्पर्शी विष उगलते हुए अत्यन्त कटु वचन बोलते हैं, तब ये सब ज्ञान की बातें भूल ही जाती हैं। उस समय तो ऐसी इच्छा होती है या तो इसे मार दें या स्वयं ही इससे लड़कर मर जायँ। दुष्टों द्वारा अपमानित होने पर भी जिसके मन में कोई विपरीत भाव न उठे ऐसे पुरुषों को मैं अत्यन्त ही दुर्लभ मानता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"भैया! कठिन तो है ही, किन्तु असंभव

नहीं है। यदि मनुष्य स्वस्थ चित्त से अपमान की घटना पर शांत होकर विचार करे तो फिर उसे दुःख नहीं हो सकता।'

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! विचार कैसे करना चाहिये। उस समय क्या सोचना चाहिये। इस विषय को मुझे सरलता के साथ विस्तार पूर्वक बतावें। जिससे मेरी बुद्धि में यह विषय आ जाय।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव इसी बात का विस्तार तो समस्त वेद शास्त्रों में किया गया है। विस्तार के साथ नहीं संक्षेप में मैं तुम्हें सुनाऊँगा।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! अत्यन्त संक्षेप न करें, मेरी अल्प मति है और यह विषय अत्यन्त गहन है। आपके भक्तों के लिये तो कुछ असम्भव है ही नहीं। जो निरन्तर आप के ही धर्मों मे निरत हैं, आपकी ही सेवा पूजा में आठों प्रहर लगे रहते हैं। जिन्होंने आपके चरणारविन्दों का ही आश्रय ग्रहण कर लिया है, उन साधु स्वभाव के सरल शान्त चित्त भक्त तो सब कुछ सह सकते हैं। उनके अतिरिक्त कैसा भी विवेकी क्यों न हो, अपमान से एक बार तो उसे भी क्षोभ हो ही जाता है। करें क्या भगवन्! यह मानव प्रकृति अत्यन्त ही बलवती है। सबका अपमान सहना अत्यन्त कठिन हो जाता है।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, उद्धव! तुम्हारा कथन सत्य है, किन्तु जो मेरा आश्रय लेकर विचार करता है यह सब कुछ सह सकता है। इस विषय में मैं तुम्हें एक इतिहास सुनाता हूँ, उससे तुम समझ सकोगे कि अपमानित होने पर कैसे विचार करना चाहिये कैसे अपमान को सहना चाहिये। इस कथा को तुम दत्तचित्त होकर श्रवण करो।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! अब भगवान् जैसे दृष्टान्त

देकर उद्धव को समझायेंगे उस कृपण पुरुष के चरित्र को मैं तुम्हें सुनाता हूँ।"

छप्पय

होहि अरथ नहिँ तऊ जगत चिन्तन है अनरथ।
स्वप्न माँहि जो लखै तिन्हें सत् समुझै स्वारथ॥
भ्रम वश भासित होहि सत्य जग कूँ मत जानो।
खल जो कछु कटु कहैं, बुरो ताको मत मानो॥
उद्धव बोले—'प्रभु! नहीं, सह्यो जात अपमान है।
कैसे समदरसी बनैं, हिय महँ बट अज्ञान है॥

एक कृपण की कहानी।

(१३०५)

कथयन्ति महत्पुण्यमितिहासमिहोद्धव।
तमहं वर्णयिष्यामि निबोध सुसमाहितः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २३ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

हरि हँसि बोले—'सखे! सहन अपमान कठिन अति।
वाक्य बानतें बिधे व्यक्ति की बिगरै गति मति॥
सुनो एक दृष्टान्त अवन्ती नगरी नामी।
तामें द्विज इक बसे कृपन अति क्रोधी कामी॥
भयो नाश धन कृपन को, दान भोग नहिँ कछु करयो।
हरयो चोर, नृप, स्वजन, खल, जोरि जोरि जो धन धरयो॥

जिसको व्यसन लग जाता है, वह उसमें अन्धा हो जाता है, उसके गुण दोषों की ओर दृष्टि पात ही नहीं करता। लाग

*उद्धवजी के पूछने पर भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! इस विषय में एक अति पावन प्राचीन इतिहास को ऋषि लोग कहा करते हैं उसी को मैं तुम से कहता हूँ, तुम समाहित चित्त से उसे श्रवण करो।"

यार कोई उसके दोष बतावे किन्तु वह ध्यान ही नहीं देता। नहीं तो तमाल पत्र को पीने मे खाने में सूँघने में क्या सुख है, किन्तु जिन्हें इन बातों का व्यसन हो जाता है, वे छोड़ नहीं सकते। इसी प्रकार धन को जोड़ने का भी एक व्यसन होता है। धन का उपयोग है दीन दुखियों की सहायता करना, अपना वैभव दिखाना अच्छे अच्छे भोग भोगना, किन्तु कृपण लोग यह सब नहीं करते। उसे जोड जोड़कर रखते जायँगे। न स्वयं खायँगे न शक्ति भर किसी दूसरे को देंगे। यहाँ तक कि अपनी पत्नी से, पुत्रों से सगे सम्बन्धियों से भी छिपावेंगे। उनसे कोई पूछे—"अच्छा, यह बताइये आप इसे जोड जोड़कर क्या करेंगे। यदि आप के पुत्र सुपुत्र हुए तो उन्हे आपके धन की अपेक्षा ही नहीं, वे अपने बाहुबल से विपुल धन कमा लेगे। यदि कुपुत्र हुए तो कुछ ही दिनों मे उडा देंगे। आपका इसे जोडने से यह लोक परलोक दोनों ही बिगड जायँगे।" किन्तु वे इन बातों को सुनते ही नहीं। द्रव्य व्यय करने मे प्राणान्तक कष्ट होता है, बहुतों के तो धन के पीछे प्राण ही चले जाते हैं, फिर भी वे धन को नहीं बताते। यह बात पुत्र पौत्र वाले घर गृहस्थियो की ही हो सो बात नहीं। जिनके पुत्र, स्त्री, भाई बन्धु कोई नहीं है। घर बार छोड आये हैं, विरक्तों का सा वेप भी बना लिया है, फिर भी जिन्हें संग्रह व्यसन होता है, वे धन को जोड़ जोडकर रखते ही हैं। जो ऐसे धन को जोडते हैं उनके धनका अन्य लोग ही उपभोग करते हैं। वे तो केवल संग्रह करने वाले ही होते हैं। धन नष्ट होने पर जिसे उससे विराग हो जाय उसके मानो पूर्व जन्म के अनन्त पुण्य उदय हो जाते हैं। धन के नष्ट होने पर उसके अशुभ संस्कार भी सब नष्ट हो जाते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने भगवान् से अपमान सहन करने को अत्यन्त कठिन बताया और माना-"

पमान में सम बुद्धि कैसे रहे इसका उपाय पूछा, तब भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा उद्धवजी के प्रश्न की प्रशंसा करते हुए कहने लगे—"उद्धव ! यह तो तुमने लोक कल्याणार्थ बड़ा ही उत्तम प्रश्न किया। हे भगवत् भक्तों में अग्रणी ! यह प्र॰ तुम्हारे अनुरूप ही है। तुम जैसे परोपकारी पुरुष ही ऐसे पुण्यप्रद प्रश्न पूछ सकते हैं। साधारण लोगों की बुद्धि में ही यह बात न आवेगी। तुम तो सब कुछ समझते ही हो, किन्तु साधारण मनुष्यों की बुद्धि में भी यह विषय बैठ जाय, इसीलिये तुम पूछ रहे हो। क्यों न हो तुम तो देवताओं के गुरु बृहस्पति जी के शिष्य हो। तुम विद्या बुद्धि में अपने गुरु से न्यून नहीं हो। तुम्हारा कथन सोलहू आने सत्य है, दुर्जनों की दुरुक्ति . वज्र वाणों को सहन करने वाले सज्जन संसार में सर्वत्र नहीं मिलते। लाखों करोड़ों में ऐसे सम बुद्धि, सहन शील, साधु स्वभाव के सज्जन संत मिलते हैं। विष बुझे बाणों के प्रहारों को भी लोग हँसते हँसते सहन कर सकते हैं, किन्तु दुष्ट पुरुषों के मर्म स्पर्शी कठोर वचन रूपी बाणों को सहन करने वाले व्यक्ति विरले ही होते हैं। अपरिचितों का अपमान तो एक बार सहा भी जा सकता है, किन्तु परिचितों द्वारा किया हुआ अपमान तो हृदय में नासूर उत्पन्न कर देता है और उसकी पीड़ा जीवन भर बनी रहती है।

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज ! परिचितों के दुर्वचनों का इतना प्रभाव क्यों पड़ता है ?"

भगवान् ने कहा—"जहाँ हमें कोई जानता नहीं, वहाँ कोई अपमान कर दे तो प्रायः लोग उसकी उपेक्षा कर देते हैं। सोचते हैं—"इससे हमारा क्या सम्बन्ध न यह हमें जानता है न हम इसे जानते हैं।" किन्तु जब अपने आस पास अपने सम्बन्धी घनिष्ट मित्र आदि होते हैं उस समय बड़ी चोट लगती है।

यथार्थ सहन शीलता की परीक्षा तो तभी होती है। एक महात्मा थे, उसके समीप एक बहुत बडा व्यक्ति गया और उसने प्रार्थना की—"महाराज! मुझे दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लीजिये।"

महात्मा ने कहा—"अभी तुम कुछ काल मेरे समीप रहो, मैं तुम्हारी पात्रता की परीक्षा करूँगा, कि तुम दीक्षा के योग्य हो या नहीं।" यह सुनकर वह महात्मा की सेवा में रहने लगा।

वह राजा की ओर से एक प्रान्त का शासक रह चुका था। महात्माजी ने कहा—"तुम अपना मूँड मुडा लो और सबक यहाँ से एक एक मुट्ठी अन्न की भीख माँगकर लाया करो।

जिस प्रान्त के वे शासक रह चुके थे, वहीं मूँड मुडा कर भीख माँगने जाते। कोई मान करते कोई अपमान भी कर देते, किन्तु वे उन दोनों में ही सम भाव से बने रहते। महात्मा ने जब देखा अपमान से इनके मन में क्षोभ नहीं होता तो उन्हें दीक्षा देकर शिष्य बना लिया।

अपमान होने पर भाग्यवश जिसके मनमें विवेक उत्पन्न हो जाय, उसका तो समझना चाहिये बेडा पार ही है। इस विषय में एक बडा ही प्राचीन पवित्र इतिहास है, कहो तो मैं तुम्हें उसे सुनाऊँ।"

दीनता के साथ उद्धवजी ने कहा—"प्रभो! उस पुण्यप्रद पावन इतिहास को मुझे अवश्य सुनावें। दृष्टान्त से विषय भली भाँति समझ में आ जाता है।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! सुनो मैं उस परम पुण्यप्रद इतिहास को सुनाता हूँ, किन्तु तुम मनको इधर उधर मत जाने देना बडी सावधानी से समाहृत चित्त होकर इसे सुनना। उसमें उसी व्यक्ति का इतिहास है जिसे दुर्जनों ने प्रपीडित किया था और उसे विवेक हो गया था।

यह बहुत पुरानी बात है। सप्त पुण्य प्रदायनी पुरियों में एक

अवन्तिका पुरी भी है। पुण्य सलिला भगवती क्षिप्रा नदी के तट पर अवस्थित यह नगरी उन दिनों परम समृद्धि शालिनी थी। वाणिज्य व्यापार का यह केन्द्र ही बनी हुई थी। उसी प्राचीन नगरी में एक ब्राह्मण रहता था। जन्म से तो वह ब्राह्मण ही था, किन्तु वृत्ति उसने वैश्यों की स्वीकार कर ली थी। ब्राह्मण तो निष्किञ्चन होते हैं, वे तो अपने पास कुछ संचय करते नहीं किन्तु उसे सञ्चय करने का अत्यन्त व्यसन था। लक्ष्मी का निवास व्यापार मे है, इसीलिये वह व्यापार भी करता था और खेती भी कराता था। रात्रि दिन खेती व्यापार की ही चिन्ता में मग्न रहता था। भाग्य उसके अनुकूल था अतः उसे व्यापार में लाभ ही होता था, इससे उसका धन उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और कुछ ही दिनों में वह बड़ा भारी धनाढ्य हो गया। नगरी के बड़े बड़े धनिकों मे उसकी गणना होने लगी। किन्तु वह कृपण ऐसा था, कि एक पैसा भी यथाशक्ति व्यय नहीं करता। एक पैसे की भी कहीं बचत दीखती तो पूरा प्रयत्न करके बचाता। यदि कहीं एक पैसा व्यय होने की संभावना होती, तो वहाँ से दूर ही रहता न तो वह स्वयं पेट भरके अच्छा भोजन खाता न घर वालों को ही खाने देता। उसके यहाँ अन्न की खत्तियाँ भरी रहतीं। जब खत्तियों को खोलता, तो उसमें से अच्छे अच्छे अन्न को वेचकर उसका रुपया बनाकर भूमि में गाड़ देता जो नीचे का सड़ा गला घुना अन्न होता उसे ही घर में खाने को देता घर वाले कहते—"यह तो सड़ा अन्न है इसमें गन्ध आती है, तो वह कहता—"अन्न देवता का अपमान नहीं करते। अन्न का क्या सड़ा है, धो लो सुखाकर पीस लो। अधिक खाओगे, तो हानि होगी। कम खाओ यह तो अमृत के समान है।' इस प्रकार सब को समझा देता।

साक भाजी लेने को वह स्वयं जाता जब सब लोग साक

साक क्रय कर ले जाते, तो सब के पीछे जाता। जो सडा गला सब से पीछे रह जाता उसी को एक छदाम में ले आता। घर वालों से कहता—"इसी को बीन बीन कर बना लो।" घर वाले क्या करते। माल टाल तो उसने सब अपने अधीन कर लिया था, किसी को बताता ही नहीं था।

कपडे लेने भी वह स्वयं ही जाता। जो फटे हुए कपडे किसी के काम के नहीं होते उन्हें ही लाता और उनमें थेगरी लगा लगा कर स्वय पहिनता और सभी को पहिनाता। उससे कोई व्यय करने की बात कहता, तो सुनते ही मारे क्रोध के आग बबूला हो जाता वह कामी भी था, किन्तु कोई भी काम की क्रीडा ऐसी नहीं करता जिसमें कुछ धन व्यय हो। धन की रक्षा वह प्राणों से भी अधिक करता था।

परिवार में किसी के विवाह हो, उत्सव हो, भोज हो मृत्यु हो वह किसी के यहाँ नहीं जाता था। वह सोचता था—"यदि मैं किसी के यहाँ खाने को गया, तो मुझे भी लोगों को खिलाना पडेगा। किसी के विवाह में जायँ तो वहाँ कुछ देना पडेगा। किसी की मृत्यु में गये तो वहाँ भी कुछ करना होगा। इन्हीं सब बातों को सोचकर वह किसी के भी यहाँ व्यवहार में नहीं जाता। उसके जाति के सगे सम्बन्धी उसके यहाँ आ जाते, तो उनसे मुखसे भी नहीं बोलता। भोजन तथा इलायची की तो बात ही पृथक रही। किसी अतिथि को, सगे सम्बन्धी को आते देखता तो खिड़की गार लेता। दिन भर बैठे हैं, तो बैठे रहें वह दूसरे मार्ग से निकलता, किसी से भोजन की बात ही न करता। इसीलिये सब ने उसके यहाँ आना छोड दिया था कहावत है—

ठनर मिन्तर महमान को, इनको यही स्वभाव।
तीन दिना लंघन करै, फेर न देंगे पाँव॥

घर में स्त्री कहती—'आज अमावस्या पूर्णिमा है, किसी को

एक सीधा दे दो। तो वह अत्यन्त क्रोध करके कहता—"दे किसे हैं हम तो स्वयं ही ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण का काम दान लेना है। स्त्री कहती—"आज श्वसुर जी का श्राद्ध है, एक ब्राह्मण जिमा दो।"

तब वह क्रोध करके कहता—"तू तो भोली भाली है। स्त्री ही ठहरी तुझमें इतनी बुद्धि कहाँ है। ये सब पंडितों की ठग विद्या है। अपने पेट को भरने को ये युक्तियाँ लगा रखी हैं, नहीं तो जो मर गया मर गया। ब्राह्मण को जिमाने से मरे हुए को कैसे मिल जायगा।" यह सुनकर स्त्री चुप हो जाती। इस इस प्रकार वह धर्म कर्म से सदा विहीन ही बना रहता। न तो देवता पितरों के निमित्त से किसी को देता और न स्वयं ही उस

धन का उपभोग करता। उसे निरन्तर यही धुनि लगी रहती कि अब पचास लाख हुए अब साठ लाख हुए। करोड़ होने में कितनी कमी है।

उसके बहुत से पुत्र पुत्री थे। पुत्रों को न तो एक पैसा देता न उन्हें पढ़ाता ही लिखाता घुने चनों की सूखी रोटी देता, इससे वे मन ही मन उससे चिढ़े रहते थे और सोचते थे-"यह कब मरेगा।" लड़कियाँ विवाह योग्य हो गयीं थी, किन्तु वह विवाह का नाम भी नहीं लेता इसलिये लड़कियाँ मन ही मन उसे सदा कोसती रहती थीं। स्त्री निरन्तर रोती रहती थी। इस धन का ये क्या करेंगे। मेरी लड़कियाँ कितनी बड़ी हो गयी हैं। अभी तक इनका विवाह नहीं हुआ। हमारे कुल मे कलक लग जायगा। लड़के बिना पढ़े रह गये।" किन्तु वह कर ही क्या सकती थी, पराधीन जो थी।

जाति वर्ण के बन्धु बान्धव अपने धनिक स्वजन से कुछ आशा रखते हैं। यह उन सबकी आशा पर पानी फेर देता किसी को दमड़ी भी नहीं देता, इससे बन्धु बान्धव तथा जाति वर्ण वाले भी चिढ़े रहते। नौकर चाकर से भी वह दिन रात काम लेता, उन्हें भी खाने को सड़ा अन्न देता और भाँति भाँति से उन्हें कष्ट देता। इसीलिये वे उसके सम्मुख तो काम करते जहाँ वह दृष्टि के सम्मुख से हटा कि वे तान दुपट्टा सोते। उसका कोई शुभ चिन्तक नहीं था। सभी चाहते थे यह कृपण कब मरे, कब हम इसके शासन से मुक्त हों। वह न देवताओं के निमित्त कभी कोई यज्ञ करता न पितरों के लिये श्राद्ध न ऋषियों के निमित्त कोई कृत्य करता और न आगत अतिथियों का स्वागत सत्कार ही करता तथा न भूतों के लिये भूलकर भी वह बलि देता।

जिससे जो आशा रखता है, जिससे कुछ पाने का जो अपना अधिकार समझता है, यदि उसे कुछ न मिले तो वह क्रुद्ध

हो जाता है। देवता, पितर, ऋषि, अतिथि तथा अन्य छोटे बड़े सभी प्राणी गृहस्थी से आशा रखते हैं। इसी लिये गृहस्थ को पञ्चयज्ञ नित्य करने का विधान है, वह पाँचों यज्ञों मे से एक भी यज्ञ नहीं करता था, इससे उससे पाँचों ही प्रकुपित हो गये।

धन की तीन ही गति हैं। दान, भोग और नाश। देने के नाम पर तो वह किवाड़ दे लेता था अर्थात् जिस किसी अतिथि याचक को दूर से आते देखा कि तुरन्त किवाड़ दे दीं। अर्थात द्वार बन्द करके चले गये। भोगों मे वह कभी कुछ व्यय करता ही नहीं था। जो धन को न भोगता है और न दान धर्म मे व्यय ही करता है उसकी तीसरी गति ही होती है अर्थात् उसका नाश ही हो जाता है। इसलिये धनका कभी भी मोह न करना चाहिये। लक्ष्मी तो चचला है उसका कभी भी विश्वास न करना कि वह स्थिर होकर कहीं रहेगी। अत. घर मे धन बढ़ जाय, नौका में पानी भर जाय घाव में पीव भर जाय तथा मोरी मे कीच भर जाय, तो उसे तुरन्त निकाल देना चाहिये। ये जमा होकर अनर्थ ही की उत्पत्ति करते हैं। इस बात को वह कृपण ब्राह्मण नहीं समझता था, जैसे यक्ष कुबेर के धन की रक्षा करते रहते हैं, वैसे ही वह केवल धन का रखवाला ही था, उसमें से एक पैसा भी वह व्यय नहीं करता था। दान भोग से रहित धन न तो बुरे कामों में ही जायगा। जो धन को व्यय नहीं करते उन्हें कोई भयंकर रोग हो जाता है, उसमें धन व्यय होता है, चिकित्सक ले जाते हैं। राजद्वार में कोई अभियोग चल जाता है। राज कर्मचारी तथा सम्मतिदाता खा जाते हैं। घर में कोई ऐसा उत्पन्न हो जाता है, जो बुरे कामो मे उसे उड़ा देता है। धन तो किसी न किसी प्रकार नाश होगा ही उस ब्राह्मण का भी धन इसी प्रकार क्षय नष्ट होने लगा। क्योंकि उसने देवता तथा पितर आदिकों का अपमान किया था। उसका पूर्व पुण्य क्षीण

हो गया था। अब तक तो वह नाना कष्ट सहन करके अथक परिश्रम करके इसे एकत्रित करता रहा। जैसे जब सूर्य सिर के ऊपर चढ जाता है, तब उनका पतन आरम्भ होता है, उसी प्रकार संग्रह के अनन्तर व्यय न करने के कारण उसका नाश आरम्भ हुआ।

लडके बडे हो गये थे। उन्होंने एक दिन अपनी माता से कहा—"माँ! पिता जी तो कुछ देते नहीं। हम भी कुछ करना चाहते हैं, किन्तु रुपये पैसे के बिना कैसे काम हो। हमारी बहिनें भी बडी हो गयीं हैं उनका भी विवाह करना है, काम कैसे चले।"

माता ने कहा—"बेटाओ! मैं क्या करूँ, मेरी भी तो वे सुनते नहीं। तुम देखते हो मेरे पास एक भी नयी धोती नहीं। उन्हें तो जमा करने की धुनि है न जाने जमा करके क्या करेंगे?"

लडकों ने कहा—"माँ! एक उपाय तो है तुम आज्ञा दे दो तो हम करें।"

माता ने पूछा—"वह क्या उपाय है?"

लडकों ने कहा—"अब के जब रुपये लावें तब हम उनसे छीन लें।"

माता ने शङ्कित चित्त से कहा—"अरे बेटा ओ! मार पीट हो जायगी। यह बात अच्छी नहीं। ऐसे छीनना उचित नहीं।"

लडकों ने कहा—"माँ और कोई उपाय ही नहीं। छोटे चाचा की भी यही सम्मति है।"

माँ भी कुढी हुई थी, उसने कहा—"अच्छा भैया! तुम्हें जैसा उचित जान पड़े वैसा करो, किन्तु अपमान न करना।"

लड़कों ने कहा—"न माँ! हम अपमान क्यों करेंगे। हमें तो रुपयों से काम है।"

माता की अनुमति पाकर वे ताड़ लगाते रहे। एक दिन जब वे दश सहस्र रुपये लेकर चुपके से घर में घुसे तो लड़कों ने उन्हें घेर लिया और कहा—"पिता जी! बहिनें बड़ी हो गयीं हैं उनका विवाह करना है।" कुछ रुपया दे दीजिये।"

अत्यन्त क्रोध के साथ वह बोला—'मेरे पास रुपया कहाँ हैं?"

एक ने कहा—"यह आपकी पोटली में क्या है?"

उसने कहा—"कुछ भी हो, तुम से क्या?"

लड़कों ने कहा—"हमें तो रुपया चाहिये।"

उसने कहा—"मेरे पास रुपया नहीं है।"

लड़की ने कहा—"अच्छा, देखें इसमें क्या है। वह बहुत विरोध करता रहा। बड़े लड़के ने उन्हें कसकर पकड़ लिया। दो लड़के रुपयों की गठरी को लेकर चम्पत हुए। वह बहुत बड़-बड़ाता रहा, किन्तु राजभय तथा लोगों में बात न फैल जाय, इसलिये कुछ कहा नहीं। मन मार कर बैठ गया। बात तो फैल ही गयी।"

बहुत से चोर तो बहुत दिनों से घात में बैठे थे। किसी प्रकार उन्हें पता चल गया अमुक कोठरी में रुपया गड़ा हुआ है, एक दिन दस बीस मिलकर घर फोड़कर उस कोठरी में घुस गये। उसे खोदकर जो वहाँ मिला उसे लेकर चम्पत हुए। दूसरे दिन जब वह देखने गया, तो वहाँ कुछ भी नहीं भूमि खुदी पड़ी थी हाथ मलकर रह गया। किसी से कहे भी तो किस मुख से कहे। उससे सहानुभूति रखने वाला तो कोई था ही नहीं। सब उसकी हँसी उड़ाते। इसलिये किसी से उसने यह बात कही नहीं।

अब जो लोग कलहोपजीवी हैं, वे चाहते थे, किसी प्रकार इसपर कोई अभियोग चले तो हमें कुछ प्राप्त हो। एक दिन किसी

मूर्ख बलवान् थे कुछ लोगों ने सिखा दिया उसने सबके सम्मुख उसे भली भाँति पीटा और राजद्वार में अभियोग भी चला दिया। उससे तो सब चिढते ही थे, किसी ने उसकी साक्षी नहीं दी राजा ने उसको कृपण समझकर बहुत अधिक दंड दिया। राजा के सम्मुख वह क्या करता उतना धन उसे बड़े कष्ट से देना ही पडा।

कुछ धन उसने गाड कर रखा था न जाने वह कहाँ चला गया। बहुत प्रयत्न करने पर भी उसे वह धन नहीं मिला। कुछ धन उसने गाडा था उसका कोयला हो गया। जिन लोगों पर उसका ऋण था, उन्होंने ऋण नहीं दिया। व्यापार में भी उसे बहुत अधिक घाटा हो गया। जिसका देना था उसने इसका राजा की सहायता से सब धन ले लिया घर आदि बिकवा दिया। स्त्री बच्चे तो धन मिलते ही उससे अलग रहकर अपना निर्वाह करने लगे थे। अब इसके पास कुछ भी धन नहीं रह गया। गाँव और घर के लोग इसकी कृपणता के कारण इससे क्रुद्ध रहते थे, किसी की इसके साथ सहानुभूति नहीं थी। अब तक धन रहने से यह किसी की अपेक्षा नहीं रखता था। अब जब इसका सर्वस्व नष्ट हो गया, तो यह कुटुम्बियों से सहायता चाहने लगा। कहावत है अपना हो भात दूसर का पत्तल में खाया जाता है। जिसने स्वयं कभी दूसरों का दुःख में सहायता नहीं की उसकी भला विपत्ति में कौन सहायता कर सकता है। जहाँ जहाँ भी यह सहायता की आशा से जाता वहीं इसका तिरस्कार होता, लोग हँसी उड़ाते और भाँति भाँति के न कहने योग्य वचन कहते। धर्म उसने कभी किया नहीं जो इसका साथ देता। धन रहते हुए कभी उसने घृत आदि पौष्टिक पदार्थ खाया नहीं जिससे शरीर वृद्धावस्था में काम देता। अब तक धन के उत्साह से काम करता रहा। धन नष्ट होने से उसका शरीर भी शिथिल हो गया। तिरस्कार के

कारण उसकी श्री नष्ट हो गयी। धर्म हीन होने के कारण वह प्रभाव हीन और निस्तेज बन गया। यदि उसने धर्म में कुछ द्रव्य व्यय किया होता, तो उसे सन्तोष भी रहता कि इतना पैसा मेरा सुकृत मे लगा। उसके लिये तो उसका धन चिन्ता और दु:ख का कारण हो गया। अब तो वह बडा ही दुखी तथा चिन्तित रहने लगा। उसका हृदय निरन्तर अग्नि पर पडी धान की भूसी के समान सुलगता रहता था। अन्त करण सतत सतप्त बना रहता। चित्त सदा खिन्न बना रहता। स्वजनों के तिरस्कार से तथा अपनी करतूत के कारण उसके नेत्रों से निरन्तर निराशा से नीर निकलता रहता। कंठ के भरे रहने से वह किसी से बोल नहीं सकता था, किसी से अपने कष्ट को कह भी नहीं सकता था। स्नेहियों के सम्मुख कष्ट को कहने से पेट भर कर रो लेने से हृदय हलका हो जाता है। किन्तु वह किसके सम्मुख रोता, किससे कष्ट की कहानी कहता। कोई भी तो उसके साथ सहानुभूति रखने वाला नहीं था। सभी तो मन ही मन उससे द्वेष करते। सभी तो उसकी विपत्ति से प्रसन्न थे। अब उसकी चिर संगिनी एकमात्र चिन्ता ही थी। जिधर भी आशा करता उधर से ही उसे निराश होना पडता। ऐसी स्थिति में उसे संसार से वैराग्य हो गया। यथार्थ मे अनुभव हो गया, कि यह संसार दु ख मय है, इससे सुख की आशा रखना मूर्खता है। वैराग्य होते ही उसका चित्त शान्त हो गया उसे मेरी याद आई।

उद्धवजी से भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! जीव को कभी भी कैसे भी मेरी याद आ जाय, तो मैं उसका उद्धार कर देता हूँ।"

उद्धवजी ने पूछा—"तो क्या भगवन् ! आप ने उस दान धर्म से हीन कृपण ब्राह्मण का उद्धार किया ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, किया ! जैसे किया उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अब आप उस कृपण द्विज-
अभ्युदय की बात सुनिये। उसे वैराग्य कैसे हुआ इसी प्रसङ्ग
मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

भयौ कृपन धन रहित बात अब कोइ न बूझै।
मारयो मारयो फिरै न मारग सुखकर सूझै॥
आशा करिकैं जाइ जहाँ तहँ धक्का पावै।
है चिन्ता महँ मग्न नयन तैं नीर बहावै॥
अब पछितावत कृपन अति, लई भक्त चरननि शरन।
गहि पद गद् गद् कंठ तैं, विकल बिलखि बोल्यो वचन॥

———

कृपण को वैराग्य

(१३०६)

तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्ट रायस्तपस्विन : ।
खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत् ।।*

(श्री भा० ११ स्क० २३ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

मैं नहिँ कीयो धरम करम कछु द्रव्य कमायो।
सोऊ सब नसि गयो काम मेरे नहिँ आयो।
कृपननि को धन धरम भोग महँ काम न आवै।
दुख को कारन बनै लोक परलोक नसावै ॥
धन अर्जन, व्यय, नाश महँ श्रम भ्रम, भय, मद, होहिँ दुख।
चित चिन्तित सब जन कुढ़ैं, कहा द्रव्य महँ कौन सुख।

जिस दुख से दुखहारी दयानिधि याद आवें, जिस दीनत से दीनबन्धु का स्मरण हो, जिस चिन्ता मे चितचोर का चिन्तन हो और जिस निधनता से निष्किंचनों के परमधन परमेश्वर के पाद पद्मों मे प्रेम पैदा हो, तो इन सब को भगवान की परम

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धव जी से कह रहे हैं—'उद्धव ! इस प्रकार उस कृपण की जब समस्त धन राशि नष्ट हो गयी, तब वह खिन्न और संतप्त हो गया, आँखों से अश्रु की धारा बहने लगी, कण्ठ भर आया। इसी दशा में बहुत दिनों तक चिन्ता करते रहने से उस को महान् वैराग्य उत्पन्न हो गया।

कृपा समझनी चाहिये। प्रायः दुःख में लोगों को पाप सूझता है और उनकी प्रवृत्ति अन्याय के कार्यों में हो जाती है, जिसे दुःख में चिन्ता में कोई भी प्रेमी आश्रय न दे और भगवत् भक्तों की शरण में वह चला जाय, तो समझना चाहिये उसके अनन्त जन्मों के महान् पुण्य उदय हो गये है। भगवत् भक्तों की शरण में जाकर कौन दुखी रह सकता है। उसके लोक परलोक दोनों ही बन जाते हैं।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! उद्धव जी को कृपण विप्र का वृत्तान्त सुनाते हुए भगवान कह रहे हैं—"उद्धव! संसार से लोगों का प्रेम स्वार्थ मूलक होता है सहैतुक होता है। कोई धन के कारण प्रेम करते हैं। जब तक धन रहता है 'तब तक तो कहते रहते हैं, तुम इन्द्र हो', कुबेर हो, वरुण हो इत्यादि इत्यादि जब धन नष्ट हो जाता है, तो वे बात भी नहीं पूछते। बहुत से रूपासक्ति के कारण प्रेम करते है। किसी का सुन्दर रूप देखा, कि उसी की ओर आकर्षित हो जाते हैं। उसके ऊपर सब कुछ निछावर कर देते हैं, वह भी धन के पीछे उससे प्रेम का प्रदर्शन करते हैं। जहाँ उसका रूप नष्ट हुआ तहाँ उनका प्रेम भी समाप्त हो जाता है, अथवा इनका धन नष्ट हुआ तो वह भी प्रेम नहीं करते। कोई कला से प्रेम करते हैं। किसी का सुन्दर सुरीला कंठ देखा अथवा और कोई कला देखी, प्रेम करने लग गये, वह कला न रही या उसे प्रदर्शित करने की शक्ति न रही तो उनका प्रेम भी नष्ट हो जाता है। एक मात्र मेरे भक्त ही ऐसे है जो केवल हृदय देखकर निरस्वार्थ प्रेम करते हैं, कैसा भी दीन दुखिया हो, वे दुखी को धैर्य बँधाते हैं, उनकी दुख सुख की बात पूछते हैं, उनकी योग्यता के अनुसार उसे कल्याण का पथ भी दिखाते हैं, दुःख निवृत्ति के सुख कर उपाय भी बताते हैं। उस कृपण विप्र को भाग्यवश एक भगवद् भक्त के दर्शन हो गये।

धन नष्ट होने पर वह कदर्य ब्राह्मण निरन्तर दुखी रहने लगा। कहीं कुछ खाने को मिल जाता तो खा लेता नहीं तो भूखे ही रह जाता। नयनों से नीर बहाता रहता और किसी को मुख दिखाने में भी वह लजाता था।

एक दिन भूख प्यास से व्याकुल वह एक परम भागवत महात्मा के आश्रम पर पहुँचा। वे महात्मा वैष्णव त्रिदण्डी सन्यासी थे। अत्यन्त खिन्न चित्त भूख प्यास से सतप्त वह महात्मा की कुटी के पास सम्मुख बैठ गया। महात्मा ने जब देखा कि कोई अतिथि उनके द्वार पर बैठा है, तो वे उठे और आकर उससे पूछने लगे—"भैया! तुम कौन हो, इतने उदास क्यों हो रहे हो ?"

जब से उसका धन नष्ट हुआ था, तब से आज ही सर्व प्रथम उसने इतने सहानुभूति सूचक वचन सुने। उसने विपण्णता भरी वाणी में कहा—"क्या बताऊँ स्वामी जी! मैं लोक वेद से निंदित एक अत्यन्त अभागी पुरुष हूँ।"

महात्मा ने देखा, प्यास के कारण इसका कठ सूख रहा है भूख से भी यह व्याकुल है, अतः तुरन्त ही भीतर से लाकर उन्होंने भगवान् का प्रसाद दिया। पाने को ठंडा जल दिया। तुलसी मिश्रित प्रसाद को पाकर उसकी भूख ही शान्त नहीं हुई अपितु उसका अन्तःकरण भी शुद्ध हो गया। महात्मा की सहानुभूति और अहैतुकी कृपा पाकर उसका हृदय भर आया। वह महात्मा जी के चरणों में पड कर फूट फूट कर रोने लगा। महात्मा जी ने उसे अत्यन्त ही स्नेह से प्रेम पूर्वक पुचकारते हुए कहा—"उठो, भैया! मगलमय भगवान् सब कल्याण करेंगे। वे तो अशरण शरण हैं दीनानाथ हैं शरणागत वत्सल हैं। तुम मुझे अपना परिचय बताओ, अपने दुःख का कारण सुनाओ तुम कौन हो।"

। रोते रोते कदय ब्राह्मण ने कहा—"भगवन्! मैं एक अत्यन्त
ी नीच द्विजाधम हूँ। मेरा केवल जन्म हा ब्राह्मण वश में हुआ
। मैंने धन कमाने क लिय व्यापार कृषि आदि म हा सम्पूर्ण
ामय बिताया है। ब्राह्मण अपने का काइ भो कार्य नहीं किया।'
। महात्मा जी ने कहा—'भैया! धन कमाना कोई बुरो बात
ाड हा है। धन से हा तो धर्म हाता है। यज्ञ दान, देवता, ऋषि
था पितरों का तर्पण धन से हा हाता है।"
। रोते हुए विप्र न कहा—'यदि यहा हाता, तब तो मेरा धन
माना साथक ही हा जाता। जिसका धन धार्मिक कामों में लगे
ससे बढ़कर भाग्यशाली ससार मे कौन होगा। प्रभो! मेरा धन
ो मेरे लिये दु ख का ही कारण बना। हाय! जिस धन के लिये
ने इतने पाप किये, घर वालों का बुरा बना, लोक निन्दित कह-
ाया। वह धन मेर किसी भा काम में नहीं आया। न तो उससे
ने यज्ञ याग आदि कराय न भगवान् के मन्दिर का ही निर्माण
राया और न पाठशाला, गाशाला, धमशाला, वापी, कूप,
डाग, आगम वाटिका तथा अन्य काई परोपकार का स्थान बन-
ाया न अपने शरार के ही सुख भागे और न कुटुम्ब, परिवार
था जाति वालो का ही कोई हित किया। निरन्तर धमा कमाकर
ाडने की चिन्ता में ही लगा रहा।"

महात्मा ने कहा—'अरे, भैया! इतना धन कमाया उससे
छ भी सुख तो तैंने भोगा ही होगा।"

कृपण ने कहा—"भगवन्! सुख होता है उदारता में। उदार
रुप ही धन के द्वारा सुख का अनुभव करते हैं, कृपण पुरुषों का
धन से लोक परलोक दोनों ही बिगड जाते हैं। उन्हें न इस लोक
सुख मिलता है न परलोक मे। जब तक वे जीवित रहते हैं,
ब तक कमाने की चिन्ता में निमग्न रहते हैं। मेरा धन नष्ट न
जाय कैसे यह बढ़ता ही जाय, इसी चिन्ता में उन्हें रात रात

भर निद्रा नहीं आती। जब तक जीते हैं सदा संतप्त बने रहते हैं। मर कर नरकों के भीषण दुःखों को भोगते हैं। यदि धर्म किया होता तो संसार में आत्म संतोष होता मरकर स्वर्ग में जाते।

महात्मा ने कहा—"तुमने धनोपार्जन ही तो किया। ब्रह्महत्या सुरापान, सुवर्ण चोरी तथा गुरुशैय्या गमन आदि कोई महा पाप तो नहीं किय ?"

कृपण ब्राह्मण ने कहा—भगवन्! मैं समझता हूँ, लोभ से बढ़कर दूसरा कोई भी बड़ा पाप नहीं। लोभ ही सब पापों का मूल है। जितने भी बड़े छोटे पाप होते हैं, सब लोभ के ही कारण होते हैं। लोभी लोभ के वशीभूत होकर कौन सा पाप नहीं कर सकता। मनुष्य में कितने भी गुण हों, यदि उसमें तनिक भी लोभ होता है, तो सब गुड़ गोबर हो जाता है, उसके सब गुण धूलि में मिल जाते हैं। आदमी कितना भी सुन्दर क्यों न हो, यदि उसके शरीर में तनिक सा भी कुष्ट हो जाता है, तो सब अङ्ग व्यर्थ बन जाता है। कितने भी यशस्वी हो, जहाँ तनिक लोभ किया सब यश अपयश के रूप में परिणत हो जाता है, कितना भी गुणी हो लोभ के कारण उसके सब गुण नष्ट हो जाते हैं।"

महात्मा ने कहा—"अच्छा, तुमने धन से धर्म नहीं किया, शारीरिक सुख नहीं भोगा यह तो सत्य है, किन्तु तुम्हें आत्म सन्तोष तो रहता ही होगा कि हमने इतना धन एकत्रित कर लिया ?"

ब्राह्मण ने कहा—'न, महाराज ! सन्तोष कहाँ होता है, जितना धन बढ़ता जाता है उतना ही कृपणों को लोभ बढ़ता जाता है। लाभ से लोभ की वृद्धि होती है।"

धन को पैदा करने में निरन्तर चिन्ता लगी रहती है, कि ऐसा न हो कि हमें व्यापार में घाटा लग जाय, जिसे दें वह लौटावे नहीं। कोई माल बुरा न दे दे। कभी कभी चित्त में विभ्रम

जाता है इसमे धन मिलेगा या नहीं। जैसे तैसे किसी प्रकार धन मिल भी जाय तो फिर असन्तोष बढ़ता है। कैसे इसका दुगुना चौगुना हो, कौन व्यापार करने मे वृद्धि हो। वृद्धि में भी बडा परिश्रम करना पडता है चिन्ता बनी रहती है, भय तथा भ्रम का सामना करना पडता है। यदि बढ भी गया तो फिर उसकी रक्षा में निरन्तर शंकित चित्त रहना पडता है। चोर न चुरा ले जाय, जिसके पास रखें उसका दिवाला न निकल जाय अन्याय से मार न ले। व्यय करने में तो दुख होता ही है। हाय! इतना रुपया व्यय हो रहा है। इसे कैसे बचावें। हम भूल तो नहीं कर रहे हैं। इस प्रकार धन के पैदा करने में, वृद्धि करने में, तथा व्यय करने में दुःख ही दुःख है। धन से बहुत अनर्थ होते हैं, किन्तु मैंने सुना है पन्द्रह अनर्थ तो धन से ही होते हैं।

महात्मा ने पूछा– "अच्छा बताओ कौन कौन से पन्द्रह अनर्थ धन से होते हैं।"

ब्राह्मण ने कहा— 'महाराज! मेरे पिता जी बडे सात्विक वृत्ति के ब्राह्मण थे। मैं हा उनके वंश में न जाने कहाँ से कुपूत पैदा हो गया जब मैं बालक था तब उनके ही मुख से मैंने धन से होने वाले पन्द्रह अनर्थों की बात सुनी थी। धन से पहिला अनर्थ तो होता है चोरी १—चोरीकी धन पैदा करने वालेकी सदा ऐसी वृत्ति बनी रहेगी, कि किस प्रकार लोगों को ठग कर द्रव्योपार्जन करे।' बहुत से धन के लोभ से कम से कम तौलते हैं डाँडी मारते हैं। राज कर्मचारी छिपकर उत्कोच (घूँस) लेते हैं। सारांश जिसका जैसा क्षेत्र है वह किसी न किसी प्रकार धन के लिये ही चोरी करता है।

२—हिंसा जिनको एक मात्र धन को एकत्रित करने का ही व्यसन होता है, वे उसके लोभ से दूसरों के दुखों को नहीं देखते। यदि किसी को मरवाने से धन प्राप्त होने की संभावना हो तो वे

उसकी हिंसा भी करा देते हैं। भूख से किसी के बच्चे बिल रहे हैं, उनका उन पर कुछ चाहिये, तो वे बच्चों की चिंता करते उनका सर्वस्व छीन लेते हैं।

३—मिथ्या भाषण धनिक कोई विरला ही ऐसा होगा, सत्यभाषण करे। कोई उनसे पूछे—"आप पर कितना धन है तो कह देंगे—"अजी हम पर धन कहाँ हैं, किसी प्रकार च चला रहे हैं। व्यापार में तो सत्य असत्य दोनों मिले ही रहते धन का लोभी दूसरों की तो बात ही क्या अपनी स्त्री से अ बच्चों से भी सत्य भाषण न करेगा। धन के सम्मुख उसकी दृ में सत्य का कोई महत्व नहीं।"

४—पाखण्ड जो बात हम में हो नहीं उसे प्रकट करने नाम पाखण्ड है। धन के लिये लोग कितने कितने पाखण्ड क हैं, कितने कितने वेष बनाते हैं, इसे सभी जानते हैं। ऊपर त्यागियों का सा वेष बना लेते हैं। धन को तुच्छ और मिथ बताते हैं, लोगों को अपने वाग्जाल में फँसाते हैं किन्तु उनव यह सब करने का एक मात्र उद्देश्य होता है पैसा पैदा करना इस प्रकार धन के लिये लोग अनेकों स्वाँग रचते हैं।

५—काम जिसके पास पैसा नहीं, खाने को अन्न नहीं उ काम वासना कैसे उठेगी। जब पेट-भर जाता है, तब काम वास उठती है। धनी प्रायः अत्यधिक कामी होते हैं, क्यों कि क वासना पूर्ति में धन आवश्यक होता है।

६—क्रोध धनिकों की कोई इच्छा पूर्ति नहीं होती कोई उन विरुद्ध बात करता है, तो वे तुरन्त बिगड़ जाते हैं। धन के अभि मान में वे किसी को कुछ समझते नहीं। क्रोधवश सगे सम्बन्धि तक को मरवा देते हैं। उनकी आज्ञा पालन में किसी ने आन कानी की, कि वे आग बबूला हो जाते हैं। उन्हें इस बात गर्व रहता है कि हम धन के द्वारा सब कुछ कराने में समर्थ हैं।

७—स्मय-स्मय कहते हैं गर्व को। धन के कारण वे सर्वत्र अपने को श्रेष्ठ अनुभव करते हैं। दूसरे निर्धनों को तो वे तृण के समान समझते हैं।

८—अहङ्कार धनिक कुछ भी काम करेगा, ऐसा प्रदर्शन करेगा, यह कार्य मैंने किया। मेरे द्वारा इतने लोगों का पालन होता है। मैं ऐसा न करता, तो यह काम ऐसा हो ही नहीं सकता। अहङ्कार के कारण वे ही अपने को करने कराने वाला मानने लगते हैं।

९—भेदबुद्धि "धन जहाँ आया नहीं तहाँ तुरन्त भेद बुद्धि हो जाती है। यद्यपि ये हमारे सगे सम्बन्धी हैं, किन्तु ये निर्धन हैं इनके साथ हम नहीं बैठ सकते। यह छोटा है यह बड़ा है। सभी कामों में वे भेद भाव का वर्ताव करने लगते हैं।

१०—वैर धन जहाँ आया नहीं तहाँ वैर भाव बँधा नहीं। एक वस्तु के चाहने वाले जहाँ अनेक हो जाते हैं, वहाँ परस्पर में वैर हो जाता है। धन को तो सभी चाहते हैं। जिन पर धन नहीं है वे मन ही मन धनिकों से कुढ़ते रहते हैं। औरों की तो बात ही क्या घर वाले शत्रु बन जाते हैं, वे भी धन के पीछे वैर भाव करने लगते हैं। किसी पक्षी को मांस लेकर उड़ते देखते हैं, तो दूसरे बिना मांस वाले पक्षी उससे लड़ते रहते हैं और जब तक उसकी चोंच में मांस रहता है तब तक उसका पीछा करते रहते हैं।

११—अविश्वास धनिक सहसा किसी पर विश्वास नहीं करता। उसे चारों ओर ठग ही ठग दिखायी देते हैं। कैसा भी अपना विश्वासी हो धन के पीछे उस पर भी अविश्वास होने लगता है। मित्रता में यह धन बड़ा बाधक है। कोई हमारे अभिन्न मित्र हैं, उन पर कोई विपत्ति पड़ी। वे कुछ ऋण ले गये। उन्हें आशा थी, इतने दिन में आ जायगा, तब दे देंगे। संयोग की बात उतने दिन में नहीं आया। न दे सके, अब मित्रता में ग्रन्थि पड़ गयी। जिस से ले गये थे, वह सोचने लगा—"अरे, इसने

धन के लिये ही इतना प्रेम प्रदर्शित किया था, इसने मुझे ठगा अब उसकी यथार्थ स्थिति से तो वह पूर्णतया परिचित नहीं। धन के पीछे उसका अविश्वास करने लगता है। अतः जिसे अपना विश्वास स्थिर रखना हो उसे चाहिये कि वह द्रव्य का लेन देन न करे।

१२—स्पर्धा धनिकों में होड़ बहुत लगती है। वैसे चाहें एक पैसा भी व्यय न करेंगे, किन्तु अपने प्रतिस्पर्धी को नीचा दिखाने के लिये चाहें जितना धन उड़ा देंगे। उसने विवाह में एक लाख व्यय किया, तो हम तीन लाख करेंगे। जिस पर पैसा ही नहीं वह किसी से स्पर्धा ही क्या करेगा।

१३—वेश्या संसर्ग धन आने पर कामासक्ति बढ़ जाती है। बुरे स्वभाव की स्त्रियाँ उसे अपने रूप जाल में फँसा लेती हैं। धनी लोगों के आस पास ऐसे लोग घिर जाते है, जो उन्हें बुरे बुरे व्यसनों में लगा देते हैं। धनी पुरुष को जो व्यसन लग गया फिर जब तक उस पर धन है, उसे छोड़ना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

१ – द्यूत जूआ धन से ही खेला जाता है। द्यूत का ऐसा व्यसन है, कि जहाँ एक बार लग गया, तहाँ फिर इसका छूटना परम दुस्त्यज हो जाता है। उसमें यही आशा बनी रहती है, कि अब के मैं अवश्य जीत जाऊँगा। जीतने पर तो उत्साह बढ़ता ही है, हारने पर इससे भी अधिक तन्मयता हो जाती है। जिसके पास धन नहीं है, वह जूआ खेल ही कैसे सकता है।

१५—सुरापान सुरा को जब तक नहीं पीते तभी तक उससे विरत रहा जा सकता है। जहाँ दो चार बार उसे पिया तहाँ फिर उसके बिना रहा नहीं जाता यह व्यसन भी धन से ही बढ़ता है।

कृपण ब्राह्मण महात्मा जी से कह रहा है—"इस प्रकार भगवन्! यह अनर्थ की खान है। लोग कहते तो इसे अर्थ हैं, किन्तु

मेरे विचार में यह सर्वथा अनर्थ ही है। ये पन्द्रह दोष धन के ही कारण हुआ करते है। अतः जिसे अपना लोक परलोक बनाना हो, उसे धन की आशा को त्याग देना चाहिये भाग्यवश जो मिल जाय, उसे तुरन्त व्यय कर देना चाहिये।"

महात्मा जी ने पूछा—"अरे भाई! तुम्हारे घर वाले तुम्हारी कुछ सहायता नहीं करते तुम्हारे घर में कौन कौन है।"

ब्राह्मण ने कहा—"सब हैं महाराज। भाई हैं बन्धु हैं, स्त्री है पुत्र हैं पौत्र हैं, किन्तु वे मेरे किस काम के। मैंने उनके साथ कुछ किया होता तो वे भी करते। मैंने उनसे अपना धन छिपाया अब वे मुझे धन क्यों देंगे।"

महात्मा जी ने कहा—"अरे भाई! कुटुम्बियों का तो सहज स्नेह होता है।"

ब्राह्मण बोले—"सहज स्नेह वाले कुटुम्बी भगवन्! विरले ही होते हैं। नहीं तो सब स्वार्थी होते हैं। भाई बन्धु, माता पिता, स्त्री बच्चे तथा अन्यान्य कुटुम्ब परिवार के लोग सुहृद् सम्बन्धी तभी तक घुले मिले रहते हैं जब तक उनके स्वार्थ मे व्याघात नहीं होता। जहा उनके स्वार्थ मे ठेस लगी, तहा वे सब प्रेम भुला देते हैं। महाराज! अधिक धन की बात तो पृथक् रही तीस कौडी के कारण अपने लोग पराये बन जाते हैं आपस मे शत्रु का भाव रखने लगते हैं।"

महात्मा जी ने कहा—"अरे, भाई! पुत्र तो अपनी आत्मा ही हैं, पुत्रों को कुछ भी मोह नहीं होता।"

कृपण ब्राह्मण बोला—"महाराज! ये पुत्र पौत्र सब मांस चौंथने वाले होते हैं। जब तक इनके लिये कमाते रहो, तब तक बाबू जी बाबू जी करते रहते हैं। जहाँ कमाने मे असमर्थ हुए—वृद्धावस्था आई—वहाँ अपने ही बनाये घर से वे निकाल देते हैं। द्वार पर कुत्ता रखाने का काम सौंप देते हैं। कुत्तों का सा व्यवहार

करते हैं। यदि अपने पास धन हो उन्हें न दो तो तनिक से धन के पीछे क्रुद्ध होते हैं, मन ही मन अनिष्ट सोचते हैं। मेरे लडकों ने ही डाकुओं की भाँति मुझे पकड कर मेरा धन छीन लिया। अब मेरे ही धन से आनन्द उडा रहे हैं, मैं यहाँ मारा मारा फिर रहा हूँ। यह धन इतनी बुरी वस्तु है कि इसके पीछे मनुष्य न करने योग्य कामों को भी कर डालता है। जहाँ अपना स्वार्थ सिद्ध न हुआ, तहाँ बडे से बडे प्रेमी क्रुद्ध हो जाते हैं, समस्त प्रेम भाव को तिलाञ्जलि दे देते हैं। स्पर्धा करने लगते हैं और सर्व नाश करने पर उतारू हो जाते हैं। मुझे तो भगवन्! इन सभी बातों का अत्यन्त ही कटु अनुभव है।"

हँसकर महात्मा जी बोले—"तुम ब्राह्मण होकर धन के चक्कर में क्यों फँस गये। ब्राह्मणों का धन तो तप ही है। इसी लिये ब्राह्मण तपोधन कहाते हैं।"

अत्यन्त ही आत्मग्लानि के स्वर में ब्राह्मण ने कहा—"क्या बताऊँ भगवन्! मेरी कुमति थी। ब्राह्मण शरीर तो अत्यन्त ही भाग्य से प्राप्त होता है। यह मनुष्य शरीर ही अत्यन्त दुर्लभ है। देवता भी इस शरीर को इच्छा करते हैं। इस मनुष्य शरीर को पाकर भी मैंने मोक्ष के लिये प्रयत्न नहीं किया। ब्राह्मण होकर भी मैं जड पदार्थों में ही फँसा रहा। हाय! मैंने अपना सर्वनाश अपने ही हाथ कर डाला। मैं सच्चे स्वार्थ को छोडकर तुच्छ स्वार्थ में ही भूला रहा। न जाने अब मेरी क्या दुर्गति होगी, किस महानीच गति को मैं प्राप्त होऊँगा।"

महात्मा जी ने कहा—"भैया! भविष्य का किसे पता है, क्या हो। न जाने भगवान् तुम्हारे ऊपर कृपा ही कर दें। तुम्हें सुगति ही प्राप्त हो जाय।"

ब्राह्मण ने कहा—"भगवन्! जन्म जन्मान्तरों की बातें चाहे न भी ज्ञात हों किन्तु तीन जन्मों की बातें तो सभी

को विदित रहती हैं। इस जन्म में मैंने कृपणता की, किसी को कुछ दिया नहीं न देवताओं का पूजन किया न ऋषियों का सम्मान, पितरों के निमित्त श्राद्ध तर्पण भी नहीं किया, अन्य प्राणियों के प्रति भी प्रेम प्रदर्शित नहीं किया, कुटुम्ब परिवार तथा जाति वालों की सहायता नहीं की। और भी जो धन के भागी माने जाते हैं, उन्हें स्वेच्छा से कुछ भी नहीं दिया। इन कारणों से ये सब के सब असन्तुष्ट हो गये अनुमान लगाया जाता है, कि पूर्व जन्म में मैंने कोई पुण्य कर्म नहीं किया। पुण्य कर्म किये होते, तो इस जन्म में दानादि देने में मेरी स्वाभाविक रुचि होती। इस जन्म में कुछ करते तो अगले जन्म में मिलता। इस जन्म में मैंने कुछ किया नहीं यक्ष के समान केवल धन की रक्षा में ही सदा लगा रहा। इस लिये मेरी अधोगति तो होगी ही। स्वर्ग और अपवर्ग के द्वार रूप इस मानव तन को पाकर भी जो अनर्थों के आश्रय भूत धन की रक्षा में लगा रहता है दान, पुण्य तथा अन्यान्य शुभ कर्म नहीं करता, वह दूसरे जन्म में सर्प बनता है और उस धन पर बैठा रह कर उसकी रक्षा करता है।"

महात्मा जी ने कहा—"तो अरे, भैया! अभी तेरा क्या बिगड़ा है? बीती ताहि बिसार दे आगे की सुधि लेउ।" अभी से पुण्य धर्म करने लग जाओ।"

अवहेलना के स्वर में ब्राह्मण ने कहा—"अजी, स्वामी जी। बूढ़े, तोता कहीं पढ़ते हैं। महाराज! जब घर में आग लग जाय, तब कूआ खोद कर आग बुझाई जा सकती है। परमार्थ साधन तो तभी तक किया जा सकता है, जब तक शरीर निरोग हो, इन्द्रियाँ शिथिल न पड़ी हों, वृद्धावस्था न आई हो। बूढ़े बैल से बोझ नहीं उठता। मैंने अपना सुवर्ण समय प्रमाद में लोभ में मोह में खो दिया। जब मेरा साधन करने का समय था उसे तो मैंने उन्माद में खो दिया। बल पुरुषार्थ क्षीण हो गया। उसी

अवस्था मे विवेकी पुरुष साधन सम्पन्न हो कर सिद्धि लाभ करते हैं। वह समय तो मेरा अनर्थ रूप इस अर्थ के संचय में व्यतीत हो गया। अब इस वृद्धावस्था मे क्या साधन कर सकता हूँ।"

महात्मा ने कहा—"भैया! तुम इतना सब जानते हुए भी धन के संग्रह मे इतने व्यस्त क्यों हो गये?

दुःख के साथ ब्राह्मण ने कहा—"यही तो भगवान् की अत्यन्त मोहिनी माया हैं। जानकर भी लोग अज्ञानी बन जाते हैं। जो सब अनर्थों का मूल है उसे ही सर्व समझते हैं। मूर्ख ऐसा करें तो उनका अज्ञान हो माना जायगा, किन्तु मैं सोचता हूँ, कि विवेकी पुरुष धन की व्यर्थ तृष्णा से निरन्तर क्यों सन्तप्त रहते हैं। महाराज! सोचने की बात यह है, कि इस शरीर का विश्वास नहीं आज है, क्षण भर में नष्ट हो जाय। यही दशा धन की है। आज जो करोड़ पति है, कल वही द्वार द्वार का भिखारी बन जाता है। लोग धन के लिये इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि देवताओं की आराधना करते हैं, वे देवता भी सदा दुखी बने रहते हैं, दूसरों को तप करते देखकर उनके हृदय में जलन होने लगती है। यत्न से लोग अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये भाँति भाँति के कर्म करते हैं, किन्तु आज तक समस्त कामनायें किस की पूरी हुई हैं। मैंने इतना धन पैदा किया इससे मुझे क्लेश के अतिरिक्त और क्या मिला।"

महात्मा ने कहा—"भैया! तुम बड़े दुखी हो, तुम पर कोई दैवी कोप हो गया, जो तुम्हारी ऐसी दुर्दशा हो गयी।"

उसने इतनी देर महात्मा से बातें की थीं। भगवान का प्रसाद [illegible] था, अत्यन्त दुःखों से उसका हृदय पक गया था, महात्मा के सम्पर्क [illegible] पर वह पका हृदय फूट गया। पश्चात्तापरूपी औषधि से उसे शान्ति हुई अतः वह बोला—"प्रभो! इसे तो मैं उन सर्वेश्वर श्रीहरि का परम अनुग्रह ही समझता हूँ। यदि मेरा धन

नष्ट न हुआ होता, तो मैं पाप पक में फँसा ही रहता। धन के लिये न जाने और क्या क्या अनर्थ करता। भगवान् ने बड़ी कृपा को जो मुझे इस दशा में पहुँचा दिया। यह जो मुझे हृदय से पश्चात्ताप हो रहा है, अपने असत कर्मों पर ग्लानि हो रही है, संसार से जो निर्वेद हो रहा है। यही मुझ संसार सागर में डूबते हुए को सहारा हो जायगा। यह पश्चात्ताप ही मुझे पार लगाने के लिये नौका का काम देगा।

महात्मा जी ने पूछा—"तो तुमने अब निश्चय क्या किया है?"

कृपण विप्र ने कहा—"भगवन्! मेरे निश्चय से क्या होगा आप कृपा करें, तभी सब कुछ हो सकता है। भगवान् की अनुग्रह हुई और मेरी आयु शेष रही, तो अपने समस्त धर्म साधनों में सावधान और सन्तुष्ट चित्त से रह कर घोर तपस्या करूँगा। और तपस्या करते करते इस शरीर को सुखा कर अपने पूर्व पापों का प्रायश्चित्त करूँगा।

महात्मा जी ने कहा—"भाई, तुम्हारी आयु तो अब थोड़ी ही शेष है।"

ब्राह्मण बोला—"महाराज! आप कृपा करें और देवता मेरे इस संकल्प का अनुमोदन करें तो मैं इस थोड़े ही समय में सब कुछ कर सकता हूँ। महाराज खट्वांग ने तो मुहूर्त भर में ही ब्रह्म-लोक को प्राप्त कर लिया था। मेरी तो अभी कुछ भी शेष है।"

महात्माजी ने पूछा—"अच्छा, तो तुम क्या चाहते हो?"

कृपण विप्र ने कहा—'प्रभो! मुझे अब अपनी शरण में ले लें। मुझे सन्यास की दीक्षा दें। अब मैं संसार से ऊब गया हूँ।"

भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं—"उद्धव! जब उस ब्राह्मण ने महात्मा की शरण ग्रहण की तो महात्मा ने उस पर कृपा की। उसका दृढ़ निश्चय समझकर उसे

सन्यास की दीक्षा दी और वह त्रिदण्डी मौनी भिक्षु सन्यासी बन गया। सन्यासी होकर उसने जैसी सहन शीलता दिखायी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

सूत जी कह रहे हैं—"मुनियो! अब आप उस कदर्य ब्राह्मण श्रेष्ठ की सहनशीलता की बात को ध्यान पूर्वक दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

चोरी, जारी, काम, क्रोध, मिथ्या भाषन अति।
स्मय, मद, पाखण्ड वैर अरु भेद व्यसन मति॥
इरषा, विश्वासहीनता, हिंसा, अनरथ।
होहिं अर्थ त सकल सधे का धन तें स्वारथ॥
सब व्यसननि को जनक धन, तृस्ना अब नहिं करूँगा।
करें कृपा करुनायतन, ता सब तजि हरि भजूँगा॥

कृपण सन्यासी की सहन शीलता

(१३०७)

तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूत मसज्जनाः।
दृष्ट्वा पर्यभवन्भद्र बह्वीभिः परिभूतिभिः॥
(श्री भा० ११ स्क० २३ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

यों निश्चय करि विप्र भयो दण्डी सन्यासी।
प्रान, करन, मन साधि बन्यो भगवत विश्वासी॥
भिक्षा कूँ जब जाइ करैं अपमान असज्जन।
छीनैं कन्था, दण्ड, कमण्डलु, माला, आसन॥
करन लगे भिक्षा जबहिँ, त्यागि देहिँ मल मूत्र खल।
देहिँ विविधि विधि यातना, तऊ न हावै द्विज विकल॥

संसार मे दुष्ट जन न हों, तो सज्जनों की सज्जनता की परीक्षा कैसे हो। विपत्तियाँ न हों, तो धैर्य की परीक्षा कैसे हो। अग्नि न हो तो सुवर्ण की परीक्षा कैसे हो ? अग्निदेव सुवर्ण की शुद्धता को बताते ही नहीं हैं, अपितु उसके मल का भक्षण भी कर जाते हैं। इसी प्रकार दुष्ट जन सज्जनों की सज्जनता को ही सिद्ध नहीं

ॐ श्री भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! इस प्रकार जब वह कृपण विप्र सन्यासी बन गया, तो उस वृद्ध अवधूत भिक्षु को देखकर दुष्ट पुरुष भाँति भाँति से उसका अपमान करने लगे।"

करते अपितु उनके पापो को भी ले लेते हैं। जो दूसरो के गुणों की प्रशंसा करता है, उस प्रशंसक पर उसके गुण आ जाते हैं, इसी प्रकार जो किसी की निंदा करते हैं, तो निंदक उसके चौथाई पापों का लेता है। किसी के वस्त्र को कोई धोवे तो उस धोने वाले को पारिश्रमिक भी तो मिलता है। किसी के फलों को कोई तोड़े शुद्ध करे तो उसे कुछ फल दे दिये जाते हैं किसी के अन्न का काटे या उसको शुद्ध करे तो कुछ अन्न उसे मिलता है। इसी प्रकार जो किसी की निंदा करके उसके पापों को धोता है उसे भी कुछ पापो का भागीदार बनना पड़ता है। अत परमार्थ पथ के पथिक को न तो निन्दकों की निन्दा ही करनी चाहिये और न उन्हें अपना शत्रु ही समझना चाहिये। निन्दक तो हमारे हितैषी हैं, वे निन्दा करके हमें कष्ट पहुँचाकर हमारे हृदय का भी शुद्ध करते हैं और स्वय पाप के भागी बनते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब वह ब्राह्मण अत्यन्त दुखी हुआ और धन से होने वाले अनर्थों से भलीभाँति परिचित हो गया, तो उसने उन महात्मा से सन्यास की दीक्षा ले ली। इसी कथा को चालू रखते हुए भगवान् श्री कृष्ण चन्द्रजी श्री उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! जब उस कृपण विप्र ने अत्यन्त दुखी होकर बड़ी दीनता के साथ उन वैष्णव महात्मा की शरण ली, तब उन्होंने अपने योग बल से समझ लिया, कि इसे वास्तविक पश्चात्ताप है, हृदय से वैराग्य है। अब यह भजन करने का अधिकारी हो गया। कितना भी बड़ा पापी क्यों न हो, कैसे भी महा घोर पाप उसने किये हों, यदि वह सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करके प्रभु की शरण में आ जाता है, तो वह परम साधु हो जाता है। फिर उसके उद्धार में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता। इसे हृदय से अपने कुकृत्यों पर आत्मग्लानि है। इसे मैं सन्यास धर्म में दीक्षित करूँगा।" ऐसा निश्चय करके महात्माजी ने उसे

वैष्णवों की विधि से सन्यास की दीक्षा दी। शरीर, वाणी और मन इन तीनों दण्डों के प्रतीक रूप तीन दण्ड उसे विधिवत दिये। इससे वह त्रिदण्डी सन्यासी बन गया। त्रिदण्डी सन्यासी बनकर ब्राह्मण ने अपने गुरुदेव से पूछा—"प्रभो! मैं क्या करूँ?"

महात्मा ने कहा—"देख, तू मौन व्रत धारणकर ले। कलह, लड़ाई भिड़ाई की जड़ तो सांसारिक बातें करना ही है। तू भगवान् के सुमधुर नामों के अतिरिक्त कोई संसारी बात किसी से मत करना। कोई कितना भी बुरा भला कहे तू मन में विषम भाव मत लाना। तुझे लोग मारें पीटें भी तो भी तू उनका अपकार न करना। गृहस्थियों के घरों में जाकर वहाँ से भिक्षा माँगकर उसी पर निर्वाह करना। कोई सम्मान से दे, तो उसकी प्रशंसा मत करना। कोई अपमान के साथ घृणापूर्वक दे।' न दे और उलटे कटु वचन सुनावे, तो इन बातों से रोष भी मत करना। सहनशीलता में ही साधुता है। क्षमा ही साधुओं का भूषण है। अपने से किसी को उद्वेग न पहुँचे। स्वभावानुसार कोई पीड़ा देता है उसे प्रारब्ध का भोग समझ कर सहन करना।

अपने गुरुदेव के मुख से ऐसी शिक्षा श्रवण करके वह सन्यासी ब्राह्मण मन, इन्द्रियों और प्राणों का संयम करके, संसार से अनासक्त होकर विरक्त वैष्णवों की भाँति पृथिवी पर विचरण करने लगा। सत्पात्र गृहस्थियों के घर से भिक्षा ले आता, नदी के किनारे उसे धोकर पा लेता और मौन रहकर सदा हरि चिंतन करता रहता। कुछ काल घूम फिर कर वह फिर उज्जैनी में ही आ गया। अब जब सब लोगों ने उसे सन्यासी के वेष में देखा, तो सब ठहाका मारकर हँसने लगे। वे लोग कहने लगे:—

"नारि मुई घर सम्पति नासी। मूड मुड़ाइ भये सन्यासी।"
देखो, अब इसने कैसा ढोंग बनाया है। अब धन कमाने का इसने दूसरा ही उपाय सोचा है।

कोई कहता—'अरे, भैया!"

'करें चाकरी श्रावे खोट। सबसे भले भीख के रोट।"

अब बूढ़ा हुआ बाबा जी बन गया।

कोई कहता—'अरे, भैया! चार पैसा देकर मूड मुड़ाने में बड़े बड़े गुण हैं।"

'मूड मुड़ाय तीन गुण, सिर की मिटि जाय खाज।
खान को पूआ मिलें, लोग कहें महाराज॥"

दूसरा बोला—'अरे! भैया, यह साधु वेष बड़ा सरल है, इसमें सभी पाप छिप जाते हैं। कल तक जो महा ठग, लुच्चा, चोर, उठाईगीर था आज उसने धेले का गेरू मँगाकर कपड़े रंग लिये। स्वामी जी बन गये। होठों को चलाते रहो। लोग समझेंगे स्वामी जी भजन कर रहे हैं, किन्तु स्वामी जी का भजन दूसरा है—

राम नाम जपना। पराया माल अपना॥

गेरुआ कपड़ा पहिन लो, किसी भी जाति का क्यों न हो सबसे पैर छुआ लेगा। इसीलिये लोग कह देते हैं—

घुटी दवाई और मुड़े बाबाजी की क्या जाति।

इस कृपण को ही देखो, कल तक तो छदाम छदाम पर प्राण देता था। इसका सिद्धान्त था 'चाम भले ही चला जाय, दाम न जाय।' वही आज त्रिदण्डी सन्यासी बन गया है। भीख माँगने के लिये अच्छा वेष बना लिया। कुछ खायगा कुछ जोड़कर रख जायगा। कृपण कैसा भी साधु बन जाय उसका स्वभाव थोड़े ही बदलेगा। और कुछ न मिलेगा, रोटी ही बेचेगा।

कुछ लोगों ने कहा—"अच्छा उसकी परीक्षा लेनी चाहिये

कि इसने ढोंग ही बना लिया है या इसमें कुछ त्याग वैराग्य भी है।"

इस पर दूसरा जरैला बोला—"अरे, परीक्षा करी करायी है, जब कहीं ठिकाना न लगा तो उसने यह वेष बना लिया, इसमे खाने को भी मिलेगा।"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिन्हें दूसरो की निन्दा किये बिना भोजन ही नहीं पचता। वे केवल दूसरों की निन्दा करके ही अपने समय को काट लेते हैं। किसी से छेड़खानी नहो करते। दूसरे दुष्ट ऐसे होते हैं, जिन्हें दूसरों को दुख देने में ही आनन्द आता है। वे अपने आनन्द के लिये दो जीवों को लड़ा देते हैं, दूसरो के घरो में आग लगा देते हैं, दूसरो के जीवन को नष्ट कर देते हैं। ऐसे खल सर्वत्र पाये जाते हैं।"

यह ब्राह्मण वृद्ध हो गया था, इसे हृदय से अपने कुकृत्यों पर पश्चात्ताप हो गया था। धन की आशा इसकी नष्ट हो गई थी। बोलना इसने बन्द कर दिया था। मन और प्राणों का संयम करके वह मन ही मन गुरुमन्त्र का चिन्तन करता रहता और भिक्षा पर ही अपना निर्वाह करता। किन्तु दुष्ट लोग उसे दुख देने लगे।

वह अपने दण्ड कमण्डलु आदि लिये हुए जा रहा है, किसी ने उसका दण्ड ही छीन लिया। अब वह चुपचाप बैठा है। दूसरे कह रहे हैं—"अरे, भैया! दे दो, क्यों इसको दुख देते हो। इसी के सहारे तो यह माँगता खाता है।"

फिर कोई बोल उठता—"अरे इन बाँस के डंडों से क्या होगे। बाबाजी का कमण्डलु बड़ा अच्छा है, मैं तो इसमे भर-कर दूध पिया करूँगा।" यह कहकर कोई उसके कमण्डलु को ही लेकर भाग जाता।

कोई आसन को लेकर कहता—"कहो, बाबाजी! यह कहाँ से उड़ाया? यह तो हमारे योग्य है।" ऐसा कहकर वह आसन को लेकर भाग जाता।"

कोई उनकी रुद्राक्ष की माला को देखकर कहता—"बाबाजी! हमें भी चेला बना लो यह माला तो बड़ी सुन्दर है। लाओ, हम भी भजन करेंगे।" यह कहकर वह उनसे माला छीन लेता। कुछ देर तक उसे झूठमूठ घुमाता फिर खीसा में रखकर चल देता।"

कोई उनके भिक्षा के काष्ठपात्र को ही उठाकर नौ दो ग्यारह होता। कोई उनकी गुदड़ी को ही लेकर चंपत हो जाता। कोई उनके कटिवस्त्र को उठा ले जाता और कुछ दूर जाकर फिर लौट आता और कहता—"अच्छा, तुम महात्मा हो, तुम्हारा रंगा वस्त्र हम क्या लें। जब घर छोड़कर तुम्हारे शिष्य बनेंगे तब ले लेंगे। लो, इसे ले लो।" ऐसा कह कर वह देने लगता, वह सन्यासी विप्र ज्यों ही लेने जाता त्यों ही बिना दिये उन्हें चिढ़ाकर वह फिर भाग जाता। इस प्रकार उसकी विविध भाँति से हँसी करने लगे।"

कोई उसी की भाँति कमर लचाकर झूठा दण्ड बनाकर उसका अनुकरण करता। कोई पूछता—"बाबाजी! कितना धन कमा लिया है, सच सच बताना, मिथ्या भाषण मत करना।" कोई कहता—"बाबाजी! अपनी ब्राह्मणी को भी सन्यासिनी बना लो। दोनों को अधिक भिक्षा मिलेगी।" इस प्रकार सब उससे कहने न कहने योग्य सभी भाँति की बातें कह देते। वे तो मौनी ही थे, किसी की बात का वे कभी उत्तर ही न देते थे।

जब वे भिक्षा लेने जाते, तब दुष्ट लोग भाँति भाँति यातनायें देते। जैसे तैसे लोगों की आँखें बचा कर वे भि

माँग भी लाते, तो लोग उन्हें भिक्षा पाने के स्थान मे अकार दु:ख देते। वे भिक्षा माँगकर नदी के तट पर आते। भिक्षा पर ही निर्वाह करने वाले यतियों का नियम है, कि वे खट्टा, माठा, चरपरा तथा और भी जैसा अन्न भिक्षा में मिले, सबको एक ही झोली में ले। फिर उसे नदी तट पर ले जाय तीन बार उस भिक्षा की झोली को जल म डुबावे जिससे खट्टा, माठा सब एक स्वाद हो जाय, तब गो आदि का भाग निकालकर भिक्षान्न को अमृत क समान समझकर प्रेम पूर्वक पावे। उसमें से रात्रि के लिये शेष न रखे।

वे भिक्षुक ब्राह्मण यति ऐसा करते थे। जब भिक्षा माँगकर उसे नदी तट पर पाने जाते, तो दुष्ट लोग वहाँ भी उनका पीछा न छोडते। जाकर कहते—'बाबाजी! तनिक भिक्षा हमको भी दे दो। अकेले ही अकेले ऐसे सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थों का उडाना उचित नहीं।" अब वे कहते क्या? चुप हो जाते। बहुत कहते तो एक रोटी दे देते। तब दुष्ट लोग उस रोटी को लौटा देते और कहते—"अच्छा लो, हम भी तुम्हें भिक्षा देते हैं। सन्यासी को भिक्षा देने क पश्चात् हाथ पर आचमनीय जल देना चाहिये। लो, जल भी ले लो। यह कह कर उनके ऊपर मूत देते। कुछ दुष्ट लोग आकर उनके ऊपर मल ही त्याग देते। कुछ लोग हँसते हँसते आते और उनके ऊपर थूक देते।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! दुष्ट लोग ऐसे काम क्यों करते थे? इन कामों से उन्हें तो कोई लाभ होता न होगा।"

यह सुनकर भगवान् बोले—'भैया उद्धव! दुष्ट लोगों को यही परम लाभ है, दूसरों को पीडा पहुँचे। दूसरों के दुख देखकर ही वे प्रसन्न होते हैं। दुष्टों का स्वभाव होता है, किसी को जब वे शुभ कर्म करते देखते हैं, तब उनके मन में एक प्रकार की जलन होती है। वे चाहते हैं किसी न किसी प्रकार इसके इस शुभ

कार्य में विघ्न हो, यह पूरा न होने पावे। जब उसके शुभ काम में कोई विघ्न वाली बात देखते हैं, तब तो उन्हें ऐसा लगता है, मानो हमें त्रिभुवन की सम्पत्ति मिल गयी। किसी का कोई शुभ नियम होगा, तो उसे हठ करके भंग करावेंगे। उन भिक्षु ब्राह्मण ने मौन व्रत ले रखा था। दुष्ट लोगों के सर्व-प्रयत्न इसीलिये थे कि यह मौन को छोड़कर बोलने लगे। जिससे हमें चिढ़ाने में और अधिक आनन्द आवे। इसीलिये उनके ऊपर मल, मूत्र विष्ठा तथा खखार आदि छोड़ देते। इतने पर भी वे न बोलते— सब यातनाओं को चुपचाप सह लेते, तब भी वे दुष्ट न मानते। फिर वे कोई दूसरा उपाय सोचते।"

कोई पेड़ों की डाली तोड़ लाते, उन्हीं से उन्हें पीटते। कोई डंडा मार देते, कोई ईंट पत्थर-ही उठाकर उनके ऊपर फेंक देते।

कोइ कहता—"अरे, भैया! यह आसन तो मेरा है, इस पर कहाँ से आ गया।"

दूसरा कहता—"अरे, यह तो पका चोर है साधुवेष बनाकर यह चोरी ही तो करता है।"

इस पर अन्य कहता—"अच्छा, यह चोर है तो मैं आज्ञा देता हूँ, इसे बाँधकर ले चलो।"

इस पर सब ताली बजाकर चिल्लाने लगते हैं—'अवश्य ही यह चोर है। इसे बाँधो बाँधो। देखो, कहीं भाग न जाय।" ऐसा कहकर वे उन्हें रस्सी से बाँध लेते। कुछ काल बाँधकर बन्दरों की भाँति इधर उधर घुमाते, फिर छोड़ देते।"

इस पर कोई कहते—"देखो, कैसा इसने ढोंग रचा है। स्वाँग भी कैसा बनाया है। कल तक तो असत्य, प्रपञ्च, ठगी और न जाने क्या क्या कुकृत्य करता था। अब मौनी बने कुछ बोलता नहीं।"

इस पर दूसरा कहता—"अरे भैया! करे भी तो और क्या करे। बूढ़ा हो गया हाथ पैरों का पौरुष नष्ट हो गया। धन इसका नष्ट ही हो गया। घर वालों ने इसे इस प्रकार निकाल फेंका जैसे दूध में से मक्खी।" जो असमर्थ है कुछ नहीं कर सकता। उसे तिलक फटाके लगाकर वैष्णव ही बन जाना चाहिये। साधु वैष्णव ही ऐसा वेष है जिसमें ढोंगी, आलसी तथा अकर्मण्यों का भी निर्वाह हो जाता है। हम तो इसे धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते कि इसने धर्म का ढोंग भी बनाया तो सोलह आने बनाया। भीख के रोट खा खा कर कैसा मेढक के समान फूल गया है। हिमालय के समान सहन शील बन गया है। पूरा बगुला भगत बन गया है। बगुला गंगा जी के किनारे आँख मींचकर एक पैर से कैसे चुपचाप खड़ा हो जाता है दूसरे देखते ही समझ जायँ कोई ठडमरी महात्मा तप कर रहे हैं। चलता भी तो इतनी मन्द गति से मानो फूँक फूँककर पग रख रहा हो, किन्तु जहाँ मछली देखी तहाँ

गोविन्दाय नमो नमः—गप्प से निगल जायगा। इसी प्रकार यह भी बिना बोले अपने समस्त स्वार्थों को सिद्ध कर लेता है। कहावत है "एक चुप्पी हजारों को हराती है।"

इस पर अन्य कहता—"यह हमसे ही नहीं बोलता वैसे अपने पोपले मुख को निरन्तर चलाता ही रहता है, मानों सदा कुछ खाता रहता हो।" यह सुनकर दूसरे लोग ठठाका मारकर हँस जाते। कुछ लोग कहते—'यह तो विचित्र जन्तु है इसे पिंजड़े में बन्द करके पाल लो। कोई कहता—"इसे घर के भीतर बन्द कर दो। कुछ लोग उन्हें बन्द भी कर देते। किन्तु तिस पर भी ये आपत्ति न करते। इस प्रकार दैविक दैहिक तथा भौतिक जैसे जैसे भी दुःख उन्हें प्राप्त होते उन सबको वे बड़े धैय से साथ सहन करते। वे सोच लेते--"जैसा हमारे प्रारब्ध में है, वह तो अवश्य ही भोगना पड़ेगा। भाग्य के लिखे को कौन मेट सकता है। ये लोग तो मेरा बड़ा उपकार कर रहे हैं, मेरे पुराने पापों का प्रायश्चित करा रहे हैं।"

इस पर उद्धवजी ने कहा—"भगवान्! मुझे तो इस कथा में कुछ अत्युक्ति जान पड़ती है। यह सत्य है कि विवेकी पुरुष दुष्टों के दो चार बार के अपराधों की उपेक्षा कर सकता है, किन्तु निरन्तर दुःख देने पर भी मन में विकार का होना अत्यंत ही कठिन है। मनुष्य स्वभाव ही ऐसा है, कि सब कुछ जानते हुए भी क्रोध आही जाता है।"

भगवान् ने कहा—"हाँ उद्धव, तुम्हारा कथन सत्य है। मेरी मोहिनी माया ऐसी प्रबल है कि बड़े बड़े ज्ञानियों के मन में भी मोह हो जाता है। यह संसार सर्प सभी को डस लेता है, किन्तु जो सदा सचेष्ट रहता है, सर्प की औषधि निरन्तर अपने पास रखता है उसे सर्प नहीं काट सकता। इसी प्रकार उन धर्म से गिराने वाले दुष्टों के दुर्वचन सुनकर भी वह धैर्य पूर्वक

अपने यति धर्म में स्थिर रहकर सदा मन को समझाता रहता था। एक विवेक पूर्ण गीत गाता रहता था। इस गीत रूप औषधि के प्रभाव से ही उसे क्रोध रूप सर्प काटने में असमर्थ नहीं हो सकता था।"

उद्धवजी ने पूछा—'भगवन्! वह कौन सा गीत था, जिसके गाने से दुष्टों द्वारा इतनी यातना देने पर भी उस भिक्षु यति का क्रोध नहीं आता था।"

भगवान् ने कहा—"भिक्षु जिस को गाता था, उसका नाम भी भिक्षु गीत ही पड गया। उस कृपण ब्राह्मण का सन्यास लेते समय उसके गुरु ने यह ज्ञान सिखाया था। इस ज्ञान को वह विप्र नहीं भूला था, इसीलिये वह समस्त दैविक दैहिक तथा भौतिक दुखों को बिना प्रतीकार के सहन करता था।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! कृपा करके उस भिक्षुगीत को मुझे भी सुनाइये। जिससे मैं भी उस गीत के ज्ञान को धारण करके ऐसा ही सहनशील बन जाऊ।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! अच्छी बात है, उस भिक्षुगीत क ज्ञान को मैं सक्षेप में तुम्हें सुनाता हूँ, तुम्हें भी तो अब वही वृत्ति धारण करनी है। तुम इस पुण्य प्रसङ्ग को प्रेम पूर्वक एकाग्र चित्त से श्रवण करो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान् उद्धवजी से भिक्षुगीत कहेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब तो त्यागी विरागी यति ही हैं। यह प्रसङ्ग आपके लिये अत्यन्त ही हितकर है, अतः आप इसे सावधान होकर श्रवण करें।"

छप्पय

डाँटें डपटें दुष्ट बाँधि कवि मरिस नचावें।
नित कटु कहें कुवाक्य धूर्त, खल, चोर बतावें॥
कहें द्रव्य हित कृपन फिरे नित वेष बनाये।
तजै मौन खल करें यतन नहिँ डिगे डिगाये॥
दैविक दैहिक परहिँ दुख, भाग्य समुझि सबकूँ सहै।
गीत गाइ समुझाइ कें, बार बार मन तें कहै॥

भिक्षु गीत आरम्भ

(१३०८)

नाय जनो मे सुख दुःख हेतु—

न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः ।
मनः परं कारणमामनन्ति,
संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २३)

छप्पय

देवै दुख सुख कौन देव गति तैं सब होवै ।
अमुक देहि दुख समुझि अज्ञ पछितावे रोवे ॥
स्वजन, देवगन, काल, करम कारन सब नाहीं ।
मन ही सुख दुख रचै घुमावै जग के माहीं ॥
गुन वृत्तिनि उपजाइ मन, त्रिविध करम करवाइ कैं ।
आत्मा नित्य निरीह परि, बँधै गुननि मनवाइ कें ॥

शरीर सम्बन्धी सुख दुख पडने पर हमलोग अधार हो जाते हैं। जो सुख दुख मे निमित्त होते है उनकी निन्दा स्तुति

---

* भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं—उद्धव ! अपने मन को समझाता हुआ यह भिक्षु कह रहा है—"मेरे सुख दु:ख के हेतु न तो ये स्वजन हैं, न देवता, आत्मा, ग्रह, कर्म तथा काल आदि ही हैं। इनका एक मात्र कारण तो उस मन को ही बताया जाता है, जो संसार चक्र को निरन्तर चलाता रहता है।"

करने लगते हैं। वास्तव में विचार करना चाहिये सुख क्या है, दुख क्या है। एक जिसे सुख समझता है, दूसरा उसे ही दुख मानता है। जिस घटना से एक सुखी होता है, दूसरा उसी से दुखी होता है। किसी का घर है। वह ऋण के कारण बिकता है, तो बेंचनेवाले को दुख होता है, जो उसे क्रय करता है उसे सुख होता है। किसी त्यागी विरागी के यहाँ रुपये रख आओ, तो वह सर्प बिच्छू की भाँति उन्हें देखकर भयभीत हो जायगा। उन्हीं को किसी कृपण के यहाँ रख आओ तो वह अत्यंत प्रसन्न होगा। रुपये एक ही हैं, यदि वे सुख का कारण होते तो सभी को सुख देते। इससे सिद्ध हुआ कि सुख दुख वस्तुओं में नहीं है। मन ने जिसे सुख मान लिया है वही सुख है. जिसे दुख मान लिया है वह दुख है। जिसका मन वश में है उसे बाहरी घटनायें न सुखी बना सकती है न दुखी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब दुष्ट लोग उस कृपण भिक्षु को भाँति-भाँति के क्लेश देने लगे, तो वह अपने मन को समझाने लगा। वह अपने आप ही प्रश्न करता और विवेक बुद्धि द्वारा अपने आप ही समाधान करता। वह सोचने लगा—"मुझे दुख कौन दे रहा है। मेरे दुःख का कारण कौन है?"

मन ने कहा—'दुःख का कारण ये घर के बन्धु-बान्धव तथा परिजन पुरजन हैं। लड़के द्रव्य न छीनते, सगे सम्बन्धी मेरे साथ अन्याय न करते। राजा दण्ड न देता तथा चोर चोरी करके धन न ले जाते तो दुःख न होता।"

उसने सोचा—"नहीं, यह बात नहीं है। स्वजन, परिजन तथा पुरजन आदि मेरे दुख का कारण नहीं है। जब मेरे पास धन ही था, तभी मुझे क्या सुख था। अब जो खाता हूँ, उससे अच्छा तब भी नहीं खाता पहिनता था। केवल तब मेरे पास धन था अब नहीं है। अब भी वह धन कहीं चला थोड़े ही गया है।

तब भी पृथिवी मे गड़ा ही रहता था। अब भी वह कहीं गडा होगा। गड़ा न होगा पृथिवी पर कहीं बाहर रखा होगा। उस समय मुझे मानसिक सन्तोष था यह मेरा धन है। अब मानसिक असन्तोष है मेरा सवस्व लुट गया। इस से तो सिद्ध हुआ सुख-दुख का कारण मन ही है।"

मन ने कहा—"नहीं, यह बात नहीं है। दुख के कारण देवता-गण हैं। तुमने देवताश्रा की आराधना नहीं की। उनके पूजन आदि में धन व्यय नहीं किया इसीलिये कुपित होकर उन्होंने धन का नाश कर दिया।"

फिर उसने सोचा—"देवताओं से मेरा क्या वैर था। देवता मेरे धन को क्यों नष्ट करते। देवता तो सभी के शरीरों में इन्द्रिय-अधिष्ठातृ देव से निवास करते हैं वे तो अब भी मेरी इन्द्रियों में विराजमान हैं। कुपित होते तो इन्द्रियों को छोड़कर चले जाते। धन पहिले भी मेरा नहीं था, अब भी मेरा नहीं है। जो आदि में अपना नहीं अन्त में अपना नहीं रहा वह मध्य में अपना कैसे हो सकता है। भूल से मन ने उसे अपना मान लिया था, अतः दोष मन का ही है। देवताओं का नहीं।

मन ने कहा—"नहीं जी! दोष ग्रहों का है। जन्म कुडली में दूसरा स्थान धन का है। धन स्थान मे ऐसे क्रूर ग्रह आ गये कि इन्होंने तुम्हारे धन को नष्ट कर दिया।

इस पर उसने सोचा—"ग्रहों का मैंने क्या बिगाड़ा था, वे मेरे ऊपर क्यों कुपित हुए और फिर कुपित होकर उन्होंने मेरा क्या बिगाडा। जैसा मैं पहिले था वैसा अब भी हूँ। पहिले जैसे खाता पीता था वैसे अब भी खाता पीता हूँ। पहिले मुझे यह मानसिक सन्तोष था कि मैं अपना खा रहा हूँ। अब यह असन्तोष है कि मैं दूसरे के अन्न पर निर्वाह कर रहा हूँ। वास्तव में अन्न तो सब एक का ही है। मन ने ही यह भेदबुद्धि कर ली है

कि यह मेरा अन्न है यह दूसरे का अन्न है। मन जब यह मान ले कि सब अन्न एक का ही है, तब तो सुख-दुख का कोई कारण नहीं। अतः मेरा पराया भेद करने वाला मन ही यथार्थ में दुख का कारण है।"

मन ने कहा—"नहीं जी ! आत्मा दुःख का कारण है।"

उसने फिर सोचा—"आत्मा तो सुख-दुख से परे है। उसमें तो न सुख है न दुख उससे मुझे दुख क्यों होने लगा।"

मन ने कहा—"अच्छा, कर्म से तो दुख सुख मिलता है। अच्छे कर्म करोगे सुख मिलेगा, बुरे कर्म करोगे दुःख मिलेगा ? इसलिये दुख सुख में प्रधान कारण कर्म ही है।"

उसने सोचा—"यदि कर्म ही सुख दुख का कारण होता तो एक कर्म से एक सा ही फल मिलता। एक से ही कर्म करने वाले दो व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न दुख सुख होता है। जैसे भोजन एक सा ही है। एक को उसके करने से सुख होता है दूसरे को अत्यन्त दुख। भोग्य वस्तु एक ही है। उसके भोगने रूप कर्म से एक को आनन्द होता है दूसरे को अत्यन्त क्लेश इससे सिद्ध होता है कर्म सुख दुख का हेतु नहीं। सुख दुख का हेतु तो मन है। मन की जैसी भावना होगी वैसा ही सुख दुख होगा।"

मन ने कहा—"सुख दुख का कारण काल है। जाड़े के दिन आने पर सभी को जाड़ा लगता है, गरमी आने पर सब को गरमी लगती है। वृद्धावस्था आने पर सभी को कष्ट होता है।"

फिर उसने सोचा—"यदि काल ही दुःख सुख का कारण होता, तो सुख के काल में सभी को सुखी होना चाहिये था, दुख के काल में सभी को दुख होना अनिवार्य होता, किन्तु ऐसा दिखाई नहीं देता। एक ही काल में कुछ सुखी हैं कुछ दुखी। किसी को जाड़ा आने पर सुख होता है किसी को दुख। इन बातों से सिद्ध होता है कि दुख का कारण काल न होकर मन है। मन जिस समय जिस घटना में सुख अनुभव करता है वह सुख का समय

कहलाता है, जिससे दुख का अनुभव करता है वह दुख का समय कहलाता है। एकमात्र मन के ही द्वारा यह संसार चक्र चलता रहता है।"

मन ने कहा—"मेरे कारण यह ससार चक्र कैसे चल रहा है ?"

उसने मन से कहा—"देख, भाई ! जैसे समुद्र मे ऊर्मियाँ आती है। उनमें कोई छोटी होती है, कोई बडी होती है, कोई ऊँची होती है, कोई नीची होती हैं। उसी प्रकार तुझमें ऊर्मियाँ उठती रहती हैं। तुझ मन मे कभी सात्विक ऊर्मियाँ उठती हैं, उससे सात्विक कर्म होते है, राजस ऊर्मियाँ उठती हैं राजस कर्म होते हैं, तामस ऊर्मियाँ उठती हैं तामस कर्म होते हैं। गुणों की वृत्तियों को उत्पन्न करने वाला तो भैया ! तू ही है। प्रायः लोग कहते हैं—उस आदमी ने मुझे मारा, उसने मेरा सम्मान किया।' सम्मान और अपमान करने वाला व्यक्ति नहीं है। मन में सात्विक वृत्तियाँ उत्पन्न हो गयीं सम्मान कर दिया, राजस तामस उत्पन्न हुईं अपमान कर दिया। इन सब का कारण हे मन ! तू ही है। तेरा अनन्त बल है तेरे बल का कोई पार नहीं पा सकता। तेरा अपार वेग है, तेरे वेग के सम्मुख पवन, हनुमान् तथा गरुड आदि महावेगशाली भी हार जाते हैं वे भी तेरी बराबरी नहीं कर सकते। अतः जीव की कर्मानुसार होनेवाली विविध गतियों का समस्त उत्तरदायित्व तेरे ही ऊपर है।

मन ने कहा—'अजी, मैं तो जड हूँ। जड भला क्या कार्य कर सकता है ?"

उस भिक्षु ने कहा—'कार्य तो सब जड के ही द्वारा होना है, चैतन्य तो केवल साक्षी रहता है। वैज्ञानिक प्रयोगशाला मे एक विज्ञानवेत्ता बैठा है, उसने विद्युत के द्वारा एक यन्त्र का आविष्कार किया। एक जड़ यन्त्र बनकर तैयार हो गया। वैज्ञा-

सूँघ नहीं सकती और त्वचा तुम्हारे (मन) के बिना स्पर्श का अनुभव नहीं कर सकती। इसी प्रकार तुम्हारी प्रेरणा के बिना हाथ आदान-प्रदान नहीं कर सकते। पैर चल नहीं चल सकते। वाणी बोल नहीं सकती। उपस्थ तथा गुद मल-मूत्र का त्याग नहीं कर सकते। ये सब तुम्हारे वश में हैं तुम इन में से किसी के भी वश में नहीं हो। तुम सब से बली हो। तुम ने सब को जीत लिया है। तुम्हें जीतना बड़ा टेढ़ी खीर है।"

मन ने कहा—"बहुत से लोग मुझे भी तो अपने वश में कर लेते हैं।"

उसने कहा—"अजी; मन देवता जी! तुम्हें वश में करना कोई सरल काम नहीं है। बहुत से देवता तो चूल्लू भर जल से तुलसी के पत्र से ही प्रसन्न हो जाते हैं बहुत से चार बिल्व पत्र चढ़ाने और गाल बजाने से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, किन्तु तुम तो देवता जी! बड़े भयङ्कर हो। तुम संसार के बलवानों से भी अधिक बलवान् हो। जिसने तुमको वश में कर लिया वह देवताओं का भी देवता है। सब से बड़ा जितेन्द्रिय है। उससे बड़ा देवता संसार में कोई नहीं। बड़े-बड़े देवता भयङ्कर असुरों को जीत सकते हैं, किन्तु वे भी तुम्हारे (मन के) सम्मुख घुटने टेक देते हैं। अतः देवता जी हम आप के पाद पद्मों में प्रणाम करते हैं और जो आपको भी जीत लेते हैं उनके पुनीत पाद पङ्कजों में पुनः-पुनः प्रणाम करते हैं। संसार में जीतने के लिये तुम ही सब से बड़े शत्रु हो।"

मन ने कहा—"अरे भाई! मुझे ही प्रबल शत्रु क्यों बताते हो? मैं तो अकेला हूँ। संसार में इतने बड़े-बड़े शत्रु होते हैं। जिनके पास लाखों करोड़ों सशस्त्र सैनिक होते हैं। उनके समीप भाँति-भाँति के तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्र होते हैं। उन शत्रुओं को जीतो।"

उस भिक्षु ने कहा—"मन देवता जी! आपसे प्रबल शत्रु संसार में और कोई नहीं। आप अकेले ही समस्त शत्रुओं से अत्यधिक बलवान हो। और शत्रु तो जीत भी जा सकते हैं, किन्तु आप तो दुर्जय हो। आपके प्रबल वेग के सम्मुख कौन ठहर सकता है। आपका वेग असह्य है। संसार में वे लोग अत्यंत ही मूर्ख हैं जो सबसे प्रबल आप (मन रूप) शत्रु को न जीतकर अन्य लोगों के साथ युद्ध करते हैं। जिसने आप (मन) को जीत लिया उसने संसार को जीत लिया। जिससे आप नहीं जीते गये, वह त्रिभुवन का स्वामी होकर भी पराजित ही है। संसार में न कोई अन्य शत्रु है न मित्र और न उदासीन। सब में भेद-भाव करने वाले आपही ही हैं। जिसे शत्रु मान लो वह शत्रु हो जाय, जिसे उदासीन या मित्र मान लो, वह उदासीन मित्र बन जाय। जैसे लडके गीली मिट्टी से कभी हाथी बना लेते हैं, फिर तुरत उसे बिगाड कर ऊँट बना लेते हैं फिर घोडा बछेडा आदि बनाते हैं। वास्तव में मिट्टी में न हाथी है न घोडा न ऊँट है न बछेडा सब बनाने वाले की कल्पना है। इसी प्रकार संसार में न कोई शत्रु है न मित्र न हार है न जीत। मन के माने हार है मन के जीते जीत।"

अन्ध बुद्धि मूर्ख लोग इस मनो मात्र देह मे यह मैं हूँ यह मेरी वस्तु है, ऐसी अहंता ममता कर लेते हैं और इसके कारण नाना क्लेश उठाते हैं इस मिथ्या भेद-भ्रम के ही कारण अनन्त अज्ञानान्धकार में इधर से उधर भटकते रहते हैं। चौरासी के चक्कर में पडे ठोकरें खाते रहते हैं।"

मन ने कहा—"नहीं जी! मैं किसी के साथ शत्रुता नहीं करता। शत्रु तो बाहर ही है। जिसकी प्रिय वस्तु को तुम लेना चाहोगे, वही शत्रु बन जायगा। किसी का घर है, खेत है, धन है स्त्री है या अन्य कोई भोग्य पदार्थ है, उस पर तुम मन चलाओगे

तो उसका पूथ का स्वामी तुम से शत्रुता करेगा।"

भगवान श्री कृष्ण चन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं–"उद्धव! मन की ऐसी तक सुनकर वह भिक्षु ब्राह्मण हँसा और मन को समझाने लगा, कि कोई व्यक्ति किसी का शत्रु नहीं हो सकता। जैसे उसने मन को समझाया इस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! आप भी इस पुण्य प्रसङ्ग को प्रेम पूवक सुनें।"

छप्पय

दान, धरम, यम, नियम, वेद पढिवो, व्रत धारन।
वरनाश्रम शुभकरम सकल मन वश के कारन॥
यदि मन वश महँ भयो न फिरि आवश्यक साधन।
हैं साधन सब व्यर्थ होहि नहिँ वश जिनितैं मन॥
यह मन अति बलवान् रिपु, सकल करन प्रेरक प्रबल।
जाके वशमहँ सब रहैं, करहिं जाहि वश नर विरल॥

देह देह को दुख नहीं देती

(१३०९)

जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्,
किमात्मनश्चात्र हि भौमयोस्तत् ।
जिह्वां क्वचित्सदशति स्वदद्भि—
स्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २३ अ० ५१श्लो०)

छप्पय

अज्ञ न जीतैं जाहि विजय हित इत उत अटकें ।
बिनु मन जीते पुरुष विविध यानननि महँ भटकें ॥
यदि सुख दुख को हेतु मनुज कूँ ही तुम मानों ।
देह परस्पर लडैं आत्मा निष्क्रिय जानों ॥
सोचो, यदि निज दाँत तै, कटै जीभ भोजन समय ।
करौ क्रोध फिरि कौन पै, कौन करै अनुनय विनय ॥

जितना राग, द्वेष, सुख, दुख आदि का भान होता है सब भ्रमवश। एक आदमी ऊपर से नीचे तक चद्दर ओढे हुए है।

* भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—'उद्धव ! अपने मनको समझाते हुए भिक्षु कह रहा है—मान लो मनुष्य ही यदि सुख दुःख का हेतु है, तो फिर इससे आत्मा को क्या ? भूतों से उत्पन्न दो देहों के संघर्ष से जो सुख दुःख होगा वह देहों को ही तो होगा। जैसे अपने ही दाँत अपनी जीभ को काट लें, तो उसमें होने वाली वेदना के लिये क्रोध किस पर करे ?"

उसकी चद्दर में आग लग गयी। अब वह चिल्ला रहा है। मैं जल रहा हूँ। वास्तव में अभी वह जल नहीं रहा है। जल रही है चद्दर यदि चद्दर को अपने शरीर से पृथक समझ कर फेंक दें, तो उसे कुछ भी कष्ट न हो, किन्तु उसने तो भ्रमवश शरीर में और चद्दर में एकात्मभाव स्थापित कर रखा है वह तो चद्दर को ही अपनी आत्मा समझता है। शरीर हाड़ चाम का है। चद्दर सूत्रों की है। चद्दर निर्जीव वस्तु है शरीर सजीव है। शरीर आच्छाद्य है चद्दर आच्छादक है। इतने पर भी वह चद्दर को कसकर शरीर से लपेटे हुए है और दुख का अनुभव कर रहा है। उसे यह निश्चय हो जाय कि चद्दर शरीर से सर्वथा भिन्न है और उसका शरीर से कोई भी सम्बन्ध नहीं तो वह झुलसने से अग्नि की लपटों से बच जायगा। इसी प्रकार जीव जब तक आत्मा और शरीर अभिन्न मानकर अहंता ममता की रज्जु में बँधा रहेगा तब तक अनन्त अज्ञानान्धकार में इधर से उधर दुखी बना भटकता रहेगा। आत्मा निरीह निष्क्रिय, निरलेप, निरंजन, निष्फल, नित्य तथा निर्द्वंद है और देह का उससे कोई सम्बन्ध नहीं भ्रमवश अज्ञजन देह को ही आत्मा मान लेते हैं।" इस ज्ञान के होते ही जीव के सब सांसारिक सुख दुख छूट जाते हैं, वह परमानन्द में निमग्न हो जाता है। सब शास्त्रों का यही सार है। समस्त साधन इसीलिये हैं। भाँति भाँति से नाना दृष्टान्त देकर शास्त्र यही समझा रहे हैं कि देह आत्मा नहीं। देह के सुख दुःखों का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उद्धवजी! से भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! जब दुष्ट लोग उस भिक्षु विप्र को भाँति भाँति के क्लेश देने लगे, तब वह एकान्त में बैठकर अपने मन को समझाने लगा। उसने मन से कहा—"देखो, मनुआ बाबू! तुम कहते हो, शत्रु तो बाहर हैं, जिनकी वस्तु को हम लेते हैं, या लेने की

इच्छा करते हैं, वे हमारे शत्रु बन जाते हैं।" अच्छा मान लो मनुष्य ही शत्रु मित्र हैं, मनुष्य ही सुख देन वाला है तो फिर दुःख सुख होता किसे है ?"

मन ने कहा—"जिनको दुःख सुख दिया जाता है, वे दुःख सुख के भोक्ता होते हैं और जो देते हैं, वे देन वाले होते हैं।"

उसने कहा—"पहिले विचार करो कौन दुःख सुख देता है कौन भोक्ता है ? शरीर में हाथ हैं, पैर हैं, आँख, कान, नाक, मुख, उदर, मलमूत्र द्वार तथा अन्यान्य शरीर के अंग हैं। रसरक्त आदि धातु हैं। इनमें से कौन दुःख सुख देता है ?"

मन ने कहा—"सब अङ्ग उपाङ्गों को मिलाकर ही शरीर कहलाता है। वही सुख दुख देता है।"

उसने कहा—"यदि शरीर ही सुख दुख देता है, तो मृतक के शरीर में तो सभी अङ्ग उपाङ्ग ज्यों के त्यों बने हुए हैं, वह सुख दुख क्यों नहीं देता ?"

मनने कहा—"वह सुख दुख क्या देगा, वह तो जड है। उसमें से चैतन्यांश तो निकल गया। जब तक जीवन रहता है तब तक ही कर्म संभव है। जब वह मृतक हो गया तो मृत्तिका के सदृश बन गया।"

उसने कहा—"इससे सिद्ध हुआ शरीर मे दो वस्तु हैं। एक तो पचभूतों का बना शरीर दूसरे जीवात्मा। अब प्रश्न यह है कि इन दो में से दुःख देने वाला या दुख पाने वाला कौन है। तुम कहो कि आत्मा दुःख सुख देता है तो आत्मा तो एक है। सुख दुख से परे है। जब सब शरीरों में एक ही आत्मा है तो आत्मा दुःख कैसे देगा। तुम कहो कि सब के शरीर में पृथक् पृथक् आत्मा है तो आत्मा को आत्मा दुःख दे तो इसमें बुरा मानने की बात क्या ? यदि आत्मा को दुःख सुख से रहित मानो तब तो उसमें दुःख देने और दुख पाने का प्रश्न ही नहीं

उठता। यदि दुःख देना उसका स्वभाव मानों तो स्वभाव तो दुरतिक्रम बताया है उसे कोई हटा नहीं सकता। यदि दुःख देना उसका स्वभाव नहीं है तो दुःख देगा ही क्यों ?"

यदि कहो, कि एक देह दूसरी देह को दुःख सुख देती है। तो देह तो सभी पंचभूतों की ही बनी है। पंचभूतों की निर्मित देहें दूसरी देहों को दुःख सुख दें तो उसके लिये दोष किसे दें। क्या अग्नि, अग्नि को जला सकती है ?" क्या जल जल को गीला कर सकता है। क्या वायु वायु को उड़ा सकती है। क्या आकाश आकाश को गिरा सकता है। यदि नहीं तो एक देह दूसरी देह को क्या दुःख देगी। अच्छा मान लो एक देह दूसरी देह को दुःख देती ही है तो क्रोध किस पर किया जाय। अपने ही दाँतों से अपनी जीभ कट जाय तो कौन बुद्धिमान होगा जो पत्थर लेकर इन दाँतों को तोड़ डालेगा। चलते समय अपने ही पैर से अपना पैर दुख जाय, तो क्या कोई उस दुखाने वाले पैर को काट देगा। अपनी ही दाढ़ से मुख के भीतर का मांस कट जाय, तो कोई दाढ़ को तोड़ देगा ? अपनी ही जाँघों से अपनी जांघे छिल जायँ, तो कोई जाँघ को तो न काट देगा। इस प्रकार देह सभी पंचभूतों की बनी हैं सबमें एक ही तत्व है, एक देह दूसरी देह को दुःख पहुँचावे तो फिर कोप किस किस पर किया जाय ? आत्मा पर कोप करना तो बनता नहीं। शरीर पर कोप करें, तो दोनों पृथिवी आदि भूतों के विकार हैं दोनों एक ही शरीर के अङ्ग हैं अतः सिद्ध हुआ कि कोई पुरुष किसी पुरुष को दुःख सुख नहीं देता।

मन ने कहा—"तो दुख के कारण देवता होंगे अथवा आत्मा ग्रह, कर्म, या काल इनमें से कोई होंगे।"

भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—'उद्धव। देवता, आत्मा, ग्रह, कर्म अथवा काल ये सुख दुख के कारण

नहीं इस बात को संक्षेप में पीछे ही वह मन को समझाया है अब फिर उसी का स्पष्टीकरण करते हुए वह मन को समझाता है, कि इन सब में से कोई भी दुःख का कारण नहीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जैसे उस भिक्षु विप्र ने तर्कों द्वारा यह सिद्ध किया कि देवता, ग्रह, कर्म काल अथवा आत्मा दुख सुख का कारण नहीं है, उस प्रसङ्ग को जैसे भगवान् ने उद्धवजी से कहा, उसे आगे मैं आप से कहूँगा, आप सब एकाग्र चित्त से इस पुण्य प्रसङ्ग को श्रवण करें।"

छप्पय

देहिँ देवता दुःख लड़ैं यदि स्वय परस्पर।
आत्मा की का हानि गिरे जल जल के ऊपर॥
सुख दुख तें है परे आत्मा का दुख देवै।
निजानन्द महँ तुष्ट नहीं विषयनि कूँ सेवै॥
यदि ग्रहगन ही देहिँ दुख, सहै देह आत्मा नहीं।
स्वप्न काल का अहै कहा, काटे जाग्रत महँ, कहीं॥

कभी भी कोई किसी को दुःख नहीं दे सकता ।

(१३१०)

न केनचित्क्वापि कथञ्चनास्य
द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य ।
यथाहमः संसृतिरूपिणः स्या—
देवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २३ अ० ५७ श्लो०)

छप्पय

नहीं करम सुख दु.ख देहिँ आत्मा है न्यारो ।
जड चेतन हैं भिन्न नहीं दुख देहि, विचारो ॥
काल कहा दुख देहि अंश आत्मा को जानो ।
आत्मा अज, निर्द्वन्द प्रकृति तैं पर पहिचानो ॥
अहंकार संसृति जनक भ्रमवश हेहि प्रतीत दुख ।
समुझै जो जा ज्ञान कूँ होवै ताकूँ नित्य सुख ॥

सुख दुख का देनेवाला कोई दूसरा नहीं है। अपने आप ही प्राणी दुख का अनुभव करता है अपने आप ही सुखी समझने

---

* श्री भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! उस भिक्षु ने निश्चय किया, कि उस आत्मा को कभी भी किसी के द्वारा किसी प्रकार भी पाप पुण्य सुख दुख आदि द्वन्द्वों से उपराम नहीं हो सकता क्योंकि वह प्रकृति से परे हैं। यह सब तो संसृति रूप अहङ्कार में होता है। जो इस प्रकार भली भाँति जान लेता है वह भूतों से भयभीत नहीं होता।"

लगता है। कुत्ता सूखी हड्डी को चबाता है, उसकी रगड से उसकी दाढ़ों से रक्त निकलने लगता है। उस रक्त को चाटकर वह प्रसन्न होता है और ऐसा अनुभव करता है मानों यह रक्त हड्डी से निकल रहा है। विचार करने की बात है रक्त उसी का है, उसी के भीतर से निकल रहा है, किन्तु उसका आरोप कर रहा है हड्डी में। इसी प्रकार भौतिक वस्तुओं के द्वारा मन सुखदुख का अनुभव करता है उसे जीव अपने में आरोप करता है मैं सुखी हूँ मैं दुखी हूँ, अमुक ने मुझे कष्ट दिया, अमुक ने मेरी विपत्तियों में सहायता की। आत्मज्ञानी न तो कभी किसी को दोष देता है न किसी के प्रति कृतज्ञता ही प्रकट करता है, क्योंकि वह जानता है आत्मा तो नित्य शुद्ध, बुद्ध आनन्द स्वरूप है। उसे कोई क्या सुख दुख दे सकता है। उसके अतिरिक्त कोई है नहीं। गुण गुणों में बर्त रहे हैं इससे आत्मा को क्या सुख दुख।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उसी कृपण भिक्षु की कथा को चालू रखते हुए भगवान् उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! वह भिक्षु अपने मन को प्रबोध करते हुए कह रहा है। मान लो, इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता ही सुख दुख के कारण हैं, तो इसमें आत्मा की क्या हानि। एक देवता दूसरे देवता को दुख सुख देते रहेंगे। आत्मा तो देवों का भी देव है उसे तो किसी की अपेक्षा नहीं। वह तो निर्लेप है किसी ने खड्ग लेकर किसी की आँख फोड दी। तो तुम कहोगे हाथ के अधिष्ठातृ देव इन्द्र ने चक्षु के अधिष्ठातृदेव सूर्य को दुख दिया। सब के शरीर की इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव एक ही हैं। किसी के हाथ के अधिष्ठातृ देव ने आँख के अधिष्ठातृ देव को पीडा दी, तो फिर क्रोध किस पर किया जाय। मोटे आदमियों की चलते समय जाँघें सट जाने से छिल जाती हैं। दोनों ही जंघायें उसके शरीर का अंग हैं, इस विषय

में बुरा भला किसे कहें। इससे सिद्ध हुआ, कि यदि देवता सुख दुखके कारण हों भी तो आत्मा की इसमें कोई हानि नहीं।

अच्छा, कहो कि सुख दुःख का कारण देवता न होकर आत्मा ही है। तो इसमें भी कोई हानि वाली बात नहीं। आत्मा दो होते तो आपस में गुत्थम गुत्था करते। लडाई भिडाई करते। किन्तु आत्मा तो अद्वय है। उसका प्रतिद्वंदी कोई दूसरा नहीं है। जैसे सौ घडाओं मे जल भर कर रख दो, सब में सूर्य का प्रतिबिम्ब पृथक् पृथक् दिखायी देगा, इससे सूर्य तो अनेक सिद्ध नहीं होते। इसी प्रकार शरीर चाहे जितने हो आत्मा तो एक ही है। इसलिये आत्मा के अतिरिक्त कोई कुछ है भी तो वह मिथ्या है। असत् है। सत् तो एकमात्र आत्मा ही है। अपने आप से किसी को न लज्जा होती है न भय संकोच दूसरे के सम्मुख नगा होने मे संकोच करते है, किन्तु अपने आप से किसी का संकोच नहीं होता। इसलिये अपने आपसे दुख सुख नहीं होता फिर चिन्ता और क्रोध का काम ही क्या ?"

अच्छा, कहो कि सुख दुख का कारण ग्रह हैं। आज कल हम रोगी हैं, क्योंकि अमुक क्रूर ग्रह की अमुक ग्रह पर दृष्टि है, वह ग्रह अमुक ग्रह को पीडा पहुँचा रही है किसी की कर्क राशि है और उस पर साढे सात वर्ष का शनीचर आया है तो वह अजन्मा अजर अमर आत्मा की तो कुछ हानि कर ही नहीं सकता। ग्रह पीडा पहुँचावेगे, भी तो शरीर को पहुँचावेंगे, आत्मा तो उससे पृथक् है। शरीर तो जन्म मरण शील है ही। इसे तो शास्त्रकारों ने व्याधि का मंदिर बताया ही है। यदि एक ग्रह के दूसरे ग्रह के स्थान पर दृष्टि पड़ती है वह अनिष्टकारी है, तो होती रहे आत्मा के ऊपर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं।

अच्छा, कहो कि सुख दुःख का कारण कर्म है। तो कर्म दो प्रकार से होता है एक विकार युक्त वस्तु के लिये एक हिताहित

ज्ञान के लिये। जैसे घृत, शक्कर और आटा या खोया आदि ये विकारवान् वस्तुएँ इनकी स्वाद के लिये नाना वस्तु बनाना। अनेक प्रकार की सामग्री एकत्रित करना यह विकार युक्त वस्तु के निमित्त कर्म है इससे जो वस्तुएँ बनेंगी वे भी विकारवान् होगी और इनका परिणाम भी विकार ही होगा। इन्द्रिय तृप्त्यर्थ विषय भोगों के निमित्त कर्म करना विकार युक्त कर्म हैं इन्हीं वस्तुओं को भगवान् के भोग के निमित्त जुटाना। बडी श्रद्धा से भगवान् का भोग बनाना। भगवान् को नैवद्य लगाना यह शाश्वत कर्म है। वस्तुओं को देखकर विचार करना कि इसमें सत् क्या है असत् क्या है। अन्न मय कोश सत्य नहीं प्राण मय कोश सत् नहीं मनोमय कोश सत् नहीं। ये सब जड़ है इस प्रकार विचार करते करते आत्मा तक पहुँच जाय तो यह कर्म हितहित कर्म कहलाता है। इस विचार रूप कर्म से यह निर्णय हो जाता है कौन वस्तु हमारे लिये हित कर है कौन अहितकर, कौन जड है कौन चैतन्य, कौन सत् है कौन असत्। यदि कर्म विकार युक्त है तो वह जड है, उसका चैतन्य आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। यदि वह आत्मा के लिय कर्म है तो ज्ञान मय हैचैतन्य है वह सुख दुख का कारण हो नहीं सकता। इससे सिद्ध हुआ कि यदि कर्म को सुख दुख का कारण माना जाय, तो इसमे आत्मा की क्या हानि। एक पेड पर पक्षी रहता है। पेड कट गया, तो इसमे पक्षी की क्या हानि हुई। इस पेड को छोडकर दूसरे पेड पर चला जायगा। इसी प्रकार यह शरीर तो जड है। इसमें चैतन्य आत्मा पक्षी रूप से निवास करता है पेड के सुख दुख पक्षी को स्पर्श नहीं कर सकते। इसी प्रकार आत्मा का कर्मों से कोई सम्बन्ध नहा। आत्मा तो नित्य निरंजन निष्क्रिय है।

अच्छा तुम कहो कि सुख दुःख का कारण काल है, तो वह तो आत्मा को दुःख दे ही नहीं सकता। क्योंकि वह तो उसका

अंश है। क्या बिन्दु सिन्धु को दुख दे सकता है। क्या अग्नि के विस्फुलिङ्ग अग्नि को जला सकते हैं ? क्या हिमकरण हिम खण्डों को गला सकते हैं ? ये सब बातें संभव नहीं क्योंकि अंश अंशी तत्व में एक ही है उनमे द्वंद्व संभव नहीं। द्वन्द्व तो विरोधी वस्तुओं मे होता है। आत्मा तो एक अद्वय है उसमें जब द्वन्द है ही नहीं तो काल उसके सुख दुःख का कारण कैसे हो सकता है फिर क्रोध करने का काम ही क्या है ?"

भिक्षु अपने मन को समझाते हुए कह रहे हैं—"रे मन ! इन सब बातों से क्या सिद्ध हुआ ? यही न कि आत्मा प्रकृति से परे है, प्रकृति में होने वाले विकारों से उसका सम्बन्ध नहीं संसर्ग नहीं। इसीलिये उसे कभी भी किसी भी प्राकृत पदार्थ द्वारा, किसी काल में भी सुख दु ख प्राप्त नहीं हो सकता। दुःख सुख आदि द्वन्द तो इस संसृति रूप अहङ्कार मे ही प्रतीत होते हैं। जिसे ऐसा ज्ञान होगा, वह सुख दुख के लिये किसी को दोषी न बतावेगा। उसे फिर किसी भी भौतिक पदार्थ से भय नहीं, शङ्का नहीं, संदेह नहीं संशय तथा आशङ्का नहीं।"

मन ने कहा—"ससारी लोग तो सब काम इन्द्रिय सुख के लिये—भोगों को भोगने के लिये—किया करते हैं, तुम्हारा क्या उद्देश्य है।"

भिक्षु ने कहा—"इस अनन्त अपार संसार सागर को पार करना ही मेरे जीवन का एकमात्र लक्ष्य है।"

मन ने कहा—"इसके लिये तुमने उपाय क्या सोचा है ?"

भिक्षु ने कहा—"यही उपाय है, कि ये जो बातें मैंने तुम से कहीं हैं, ये स्वयं मेरी गढी हुई बातें नहीं हैं। पूर्वाचार्य महर्पियों द्वारा कथित यह ज्ञान है, मैं इस परमात्म निष्ठा रूप ज्ञान में स्थित होकर भगवान् मुकुन्द के चरणकमलों की सेवा के द्वारा

इस संसार रूप अगाध उदधि को बात की बात में सुगमता के साथ पार हो जाऊगा।"

भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! भाग्य की बात देखो, जिस धन के लिये ससारी लाग निरन्तर लालायित बने रहते हैं, उसी धन के नष्ट हो जाने पर उस कृपण ब्राह्मण को परम धन मिल गया। अब तक धन के पीछे उसे नित्य निरन्तर नाना क्लेश उठाने पडते थे। धन सग्रह की, सग्रहीत धन की रक्षा की, वृद्धि की, कैसे व्यय किया जाय इसकी तथा और भी अनेकों प्रकार की चिन्तायें थीं। धन नष्ट होने पर उसे अत्यधिक क्लेश था किन्तु जहाँ उसे ऐसा ज्ञान हो गया, तहाँ

उसकी समस्त चिन्तायें कपूर के सदृश अपने आप ही उड़ गयीं। वह क्लेश रहित होकर तथा चिन्ताओं की आलय अपने घर बार कुटुम्ब परिवार को छोड़कर–विरक्त बनकर पृथिवी पर विचरण करने लगा। ये अध्यात्म ज्ञान युक्त गीत उसने हृदयङ्गम कर लिये थे। इन्हीं के प्रभाव से वह दुष्टों द्वारा तिरस्कृत होने पर भी अपने यति धर्म में अटल बना रहा। इस आध्यात्म्य गीत को गाता रहता था। इसलिये हे उद्धव ! तुम भी इस बात को पूर्णरीत्या निश्चित कर लो कि किसी को कोई कभी सुख दुःख नहीं दे सकता। अमुक ने हमें सुख दिया अमुक ने हमें दुख दिया, यह सब तो चित्त का एकमात्र भ्रम ही है।"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! जैसे एक ही चीनी के नाना खिलौने बना लेते हैं, उसी से मृग बनाते हैं उसी से सिंह, उसी से बिल्ली उसी से चूहा। सर्प मयूर, कुत्ता बिल्ली, वृक बराह तथा और भी नाना आकृतियाँ बनाकर उनको कल्पित नामों से पुकारते हैं, ऐसे ही अज्ञान से रचित इस संसार में भी नाना कल्पनायें होती हैं। किसी को शत्रु बताते हैं, किसी को मित्र के नाम से पुकारते हैं, किसी को उदासीन संज्ञा कर देते हैं वास्तव में न कोई शत्रु है, न मित्र और न उदासीन ही। एकमात्र आत्मा ही सत् है और सब असत् है, मिथ्या है अज्ञान तथा भ्रम है। इसलिये तुम इस संसार से मन को हटा लो।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! मुझे आप योग का सार तत्व बता दें।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! तुम संसार में लगी हुई बुद्धि को हटाकर मुझ में लगा लो। और पूरी शक्ति लगाकर दृढ़ता के साथ कटिबद्ध होकर युक्तिपूर्वक मन का निरोध करो। यही योग का सार संग्रह यही संसार सागर से पार जाने का सरल सुगम मार्ग है। यह मैंने तुम्हें अत्यन्त गूढ़ ज्ञान युक्त भिक्षु गीत

सुनाया। उसे तुम साधारण गीत मत समझना यह ब्रह्मनिष्ठा से युक्त पुण्य प्रसङ्ग है। इसे जो सावधान पूर्वक समाहित चित्त से श्रद्धा सहित श्रवण करते हैं वे शाश्वती शान्ति को प्राप्त करते हैं। जो इस प्रसंग को जिज्ञासु मुमुक्षुओं को शुद्ध चित्त से सुनाते हैं, वे भी परम पद के अधिकारी वन जाते हैं, सुनकर और सुनाकर जो इसे हृदयङ्गम करते हैं धारण करते है, वास्तविक लाभ तो उन्हीं को होता है फिर वे किसी को दोष नहीं देते, कि अमुक ने मुझे दु:ख दिया और न किसी की स्तुति ही करते हैं कि अमुक ने मुझे सुख दिया। सुख दुख देने वाला दूसरा कोई है ही नहीं। जिसे आत्म ज्ञान हो जाता है, फिर वह कभी भी सुख दु:खादि द्वन्द्वों के वशीभूत नहीं होता। उसे किसी के द्वारा क्लेश का अनुभव नहीं होता ससारी घटनाओं को भाग्य के भरोसे छोड़कर वह आत्मानन्द में नित्य निमग्न वना रहता है। यह मैंने अत्यन्त सक्षेप मे तुम से भिक्षुगीत कहा, अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ?

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! मैं साख्ययाग का प्रक्रिया फिर से सुनना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! कितनी बार तो मे तुम्हे साख्य सम्बन्धी ज्ञान सुना चुका हूँ साख्य शास्त्र मे वे ही इने गिने तत्व जिनका उल्लेख मैं अनेक स्थानों पर प्रसङ्गवश कर ही चुका अब तुम और कोई बात पूछो।"

उद्धवजी ने कहा--'महाराज! गूढ विषय को बार बार ही सुनना चाहिये। उसमें पुनरुक्ति दोष नहीं होता। यद्यपि आप कई बार बता चुके हैं, फिर भी मेरी इच्छा पुन साख्य योग के सम्बन्ध में सुनने की है। आप कृपा करके साख्य की मुझे विधि प्रक्रिया समझावें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है अब मैं तुम को साख्य-योग ही अत्यन्त संक्षेप मे समझाऊँगा। तुम इसे भली भाँति हृदयङ्गम कर लो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान् "उद्धव को साख्ययोग का उपदेश देंगे उसे मैं आगे आप से कहूँगा।"

छप्पय

नहीं दु:ख सुख देहि कबहुँ काहू कूँ कोई।
दुख को कारन अन्य बतावें तिनि मति खोई॥
मारें बाँधे चाहि देहि दुख मोकूँ सबजन।
समुझि दैवगति कबहुँ होहुँ नहि दुखित मलिन मन॥
कहें कृष्ण—"उद्धव! सुनो, भिक्षु कृतारथ ह्वै गयो।
सहीं यातना खलनि की, गाय गीत प्रमुदित भयो"॥

———

सांख्य विधिसे सृष्टि

(१३११)

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम् ।
यद्विज्ञाय पुमान्सद्यो जह्याद् वैकल्पिकं भ्रमम् ॥

(श्री भा० ११ स्क० २४ अ० १ श्लो०)

छप्पय

उद्धव बोले—'प्रभो ! सांख्य अब मोइ सुनावें ।
कितने हैं सब तत्त्व ? भये कैसे ? समुझावें ॥
हरि बोले—"हौं प्रथम एक ही अद्वय सतचित ।
द्रष्टा दृश्य स्वरूप प्रकृति अरु पुरुष भये इत ॥
प्रकृति पुरुष सयोग तैं, क्षोभ भया जब गुननिमें ।
एकादश अरु देव मिलि, भयो अंड इन सबनिमें ॥

समस्त बुद्धिमानों के सम्मुख यह प्रधान प्रश्न है, कि इस ससार की उत्पत्ति कैसे हुई । कैसे यह नानायोनियोंवाला नहीं, पर्वत, वन तथा उपवनों से युक्त ससार उत्पन्न हुआ । इसमें कितने

---

*भगवान श्रीकृष्ण चन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! अब मैं तुमसे उस सांख्ययोग का वर्णन करता हूँ, जो पूर्वाचार्यों द्वारा सुनिश्चित है और जिसके जान लेने पर मनुष्य वैकल्पिक भ्रम को तत्काल त्याग देता है ।"

तत्व हैं और उन प्रधान तत्वों की संख्या कितनी है। इस विषय मे सभी एक मत नहीं है, सबके भिन्न भिन्न मत हैं। कोई तत्वोंकी संख्या कुछ बताते हैं कोई कुछ। सख्या करने से ही इस शास्त्र का नाम सांख्य है। सांख्य कहते हैं सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान प्राप्त करके उनके मुख्य तत्वों को बता देना आगे चलकर यह पचीस तत्व मानने वालों के लिये रूढ़ि हो गया। सांख्यमत वाले भी दो कहे जाते हैं एक निरीश्वर सांख्य एक सेश्वर सांख्य। योग दर्शनकार सांख्यके सब तत्वों को मानते हैं। फिर भी वे एक पुरुष विशेषको ईश्वर भी मानते हैं, इसलिये उनके मत में पचीस तत्व न होकर छब्बीस तत्व हैं। सेश्वर सांख्य का विशेष उल्लेख श्रीमद् भागवत संहिता में ही है।

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धव जी ने भगवान् से सांख्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! प्रलय के अन्त में तथा सृष्टिके आदि में जब सबसे प्रथम सत्य-युग था, तब एक अद्वय, निर्विकल्प, निरीहनिरञ्जन ब्रह्म ही था द्रष्टा और दृश्य ये दो भेद नहीं थे, उसे ही दृश्य कहलो उसीको द्रष्टा। उसीकी ज्ञान संज्ञा थी और अपने आप ही उत्पन्न विषय था। जैसे किसी के एक ही लड़का था। बाहर से कुछ लोग आये। उन्होंने आकर पूछा—"पंडितजी! आपका बड़ा लड़का कौन सा है?

समीप मे बैठे हुए अपने बड़े लड़के की ओर संकेत करके उन्होंने कहा—"यही मेरा सबसे बड़ा लड़का है।"

फिर उन्होंने पूछा—"छोटा कहाँ है?"

तब भी उन्होंने उसी की ओर संकेत करके कहा—"यही मेरा छोटा लड़का है।"

सारांश यह कि जब एक ही है, तो उसे चाहें सबसे छोटा

कह लो, मध्यम कहलो बडा कहलो। इसी प्रकार विवेक सम्पन्न पुरुष आदि मे एकही ब्रह्म मानते थे। उसे द्रष्टा कहलो दृष्य कहलो। वास्तव मे वह एक ही है। पीछे वही वाणी और मनसे अगोचर निर्विकल्प सत्य स्वरूप ब्रह्म दृष्य और द्रष्टा रूप से दो प्रकार के हो गये। दृष्य की माया सज्ञा हुई और द्रष्टा को ब्रह्म कहलो। सांख्यके शब्दोंमे उनमेंसे मायाको तो प्रकृति कहते हैं दूसरा जो ज्ञान स्वरूप द्रष्टा है उसीकी पुरुष सज्ञा है। अब एक अद्वय निर्विकल्प प्रकृति और पुरुष दो हुए। वह प्रकृति दो प्रकारकी है कार्य रूपा प्रकृति कारण रूपा प्रकृति मूल प्रकृति कारण रूपा है, उससे जो विकृति हुई वही कार्यरूपा है। गुणो की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। जब तक तीनो गुण कॉटे में तुले हुए बराबर बराबर बने रहते हैं, तब तक प्रकृति मे क्षोभ नहीं होता, तब तक वह सृष्टि करनेमे समर्थ नहीं। सृष्टि विषमता में ही होती है। समतामें सृष्टि नहीं। माता पिताका रज वीर्य विषम होगा तभी सन्तानोत्पत्ति होगी। वीर्य अधिक हुआतो पुत्र होगा, रज अधिक हुआ तो पुत्री। यदि दोनो समान हुए तो सतति न होगी। इसी प्रकार जब तक गुण सम बने रहेंगे, प्रकृति-से विकृति होती ही नहीं। सृष्टि का आरभ करना था। अतः मैंने ही प्रकृतिको क्षुब्ध किया।

उद्धवजी ने पूछा—"आपने प्रकृति को क्षुब्ध क्यों किया महाराज ?"

हसकर भगवान् बोले—"पुरुषको देखकर प्रकृति क्षुब्ध हो ही जाती है भैया ! यह ढॉचा ही ऐसा बना है। जननोन्मुख जीवों क अदृष्टानुसार मेरी प्रेरणा से प्रकृतिमे क्षोभ हो ही जाता है। माता पिता जो अन्न पाते हैं जल पीते हैं, उन सबमें जीवन होता है रजवीर्य के कीटाणु बनते हैं। वे अपने भोग भोगनेको व्यग्र

होते हैं। इसीलिये पुरुषकी प्रेरणासे प्रकृतिमें क्षोभ होता है। सन्तानें उत्पन्न होती हैं सृष्टि बढती है।

उद्धवजी ने पूछा—"सृष्टिके आदिमें जीव था कहाँसे गये? उन्होंने अभी तो कोई कर्म किये ही नहीं फिर वे उन कर्मोंके फलों को भोगने के लिये व्यग्र कैसे हुए? उनका अदृष्ट कैसे बना?"

भगवान् ने कहा—'उद्धव! यह ससार तो प्रवाह रूपसे नित्य है। इसके विपयमे यह नहीं कह सकते कि यह अमुक तिथिसे सृष्टि आरंभ हुई। अमुक दिन इसका आदि था। इसका आदि तो है ही नहीं। अनादि है। पूर्व कल्पोंके जीवोंके अदृष्ट रहते हैं। प्रलयके अनंतर जब सृष्टि आरम्भ होनेका काल आ जाता है जीव भोग भोगनेके लिय कालकी प्रतीक्षा करते हैं, काल आने पर मेरी प्रेरणासे प्रकृतिमें विकृति हो जाती है। अब तक जो तीनों गुण समान होनेसे एक बने हुए थे, अब जब उनमें विषमता आ गयी, तो सत्व, रज और तम ये तीनों पृथक पृथक हो गये। मेरी इच्छाशक्ति जब प्रकृतिमें प्रविष्ट हुई तब उसमें विकृति हुई अर्थात् तीनों गुण हुए उन तीनों गुणोंसे क्रिया शक्ति सम्पन्न सूत्र उत्पन्न हुआ।

उद्धवजी ने कहा—'सूत्र किसे कहते हैं महाराज!"

भगवान् ने कहा—"जो बाँधता है और उत्पन्न करता है। उस सूत्र से ज्ञानशक्ति प्रधान एक महान तत्व उत्पन्न हुआ।"

उद्धवजी ने पूछा—तो क्या भगवान्! यह महत्तत्व से पृथक कोई सूत्र तत्व है।

भगवान ने कहा—'नहीं, ये दोनों एक ही हैं ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनों मिलकर महत्तत्व ही कहलाती हैं। अतः प्रकृति की प्रथम विकृति का महत्तत्व ही सज्ञा है। जैसे मालाके दानोंको सूत्र एक में स्थिर रखता है वैसे ही सूत्रात्मा सब तत्वोंको

एकमें मिलाये रखता है। सबसे महान् तत्व होनेसे ही उसे महत्तत्व कहते हैं।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान्! प्रकृतिकी प्रथम विकृति सो महान् या महत्तत्व हुआ, उस विकार युक्त महत्तत्व से क्या उत्पन्न हुआ?"

भगवान् ने कहा—"उससे उत्पन्न हुआ अहंकार।"

उद्धवजी ने पूछा—"अहंकार का कार्य क्या है?"

भगवान् ने कहा—"अहंकारका कार्य है जीवको मोहमें डालना जब तक देहादिमें अहंभाव न होगा, तब तक मोह हो ही नहीं सकता। अहंकार ही समस्त भेदभावों का जनक है। वह तीन प्रकार का हुआ। सात्विक अहङ्कार राजस अहङ्कार और तामस अहङ्कार। इन तीनो ही रूपोंसे इसने सृष्टि उत्पन्न की।"

उद्धवजी ने पूछा—"किस अहङ्कार से कौन सी वस्तु उत्पन्न हुई?"

भगवान् ने कहा -"सात्विक अहङ्कार से दश इन्द्रियाँ और ग्यारहवें मनके ग्यारह अधिष्ठातृदेव उत्पन्न हुए। उनके नाम वायु सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार इन्द्र, विष्णु, प्रजापति, नैऋत, अग्नि और चन्द्रमा हैं। राजस अहङ्कारसे दशों इन्द्रियाँ और तामस अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्रायें और उनसे पाँचो भूत।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान् यह अहङ्कार जड़ है या चैतन्य?"

भगवान् ने कहा—"चैतन्यका आभास होनेसे इसमें चेतनता भी है और जड़ तो यह है ही इसे लिये इसे चित् अचित् अर्थात् जडचेतनमय कहते हैं। केवल जड़ भी नहीं और शुद्ध चैतन्य भी नहीं। कुछ मिलाजुला सटर पटर है।

उद्धवजी ने पूछा—"फिर इन सबने उत्पन्न होकर किया क्या?"

भगवान् ने कहा—"ये सब पृथक् पृथक् थे। जब तक सूत्र पृथक् पृथक् रहते हैं तब तक ये कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं एक बकरी भी उसे तोड़ सकती है। जब बहुत सूत्र परस्परमें मिल-जुल जाते हैं, तो मत्तगयन्द को भी रोकने में समर्थ हो जाते हैं, उनमें महान् शक्ति हो जाती है, किन्तु उसे जोड़नेवाले परस्परमें मिला देने वाला कोई शक्तिशाली ही व्यक्ति चाहिये। अतः मेरे द्वारा प्रेरित होकर ये जितने जगत्‌के कारण तत्व उत्पन्न हुये थे, इन सबने परस्पर मिलजुलकर मेरा आश्रयरूप यह अंड बनाया। जब यह अडा जीवन रूप जलमें स्थित हुआ तो मैं इस अंडमें विराजमान हो गया। मै इस जगत्‌के समष्टिरूपमें अंडमें जब घुस गया तो मेरी नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ। कमल क्या था वह सम्पूर्ण चराचर विश्व ही था, उस कमल पर मैंने देखा एक चार मुखवाला देव बैठा है। वह अपने आप उत्पन्न हुआ था, इसलिये उसका नाम 'स्वयम्भू' पड़ा। जन्म न लेनेसे अज तथा विश्वमें व्याप्त होने से ब्रह्मा भी उसकी संज्ञा हुई।"

. उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! उन चतुर्मुख ब्रह्माने क्या किया ?"

भगवान् बोले—"उन्होंने मेरी प्रेरणा से तप किया। फिर मेरी अनुग्रहसे रजोगुण द्वारा लोकपालों के सहित इस त्रिभुवन की रचनाकी जिन्हें भूः भुवः और स्वः तथा पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग कहते हैं। वह अंडा बीच से दो हो गया था नीचे के भाग से पृथिवी और उसके भीतर ऊपरके भागसे स्वर्गादिलोक और बीचमें जो अवकाश रह गया। उससे भुवर्लोक बना। पृथिवी पर मनुष्य आदि प्राणी रहने लगे। भुवर्लोकमें वायुके आधार पर रहनेवाले भूत, प्रेत पिशाच आदि रहने लगे। स्वर्गमें देवता-गण तथा स्वर्गसे ऊपर महर्लोकमें सिद्ध महर्षिगण रहने लगे, जनलोकमें ऊर्ध्व रेता ब्रह्मचारीगण, तपलोकमें तपस्वी वानप्रस्थ

आदि और सत्यलोक में महान् पुण्यात्मा तथा ज्ञानीजन निवास करने लगे। पृथिवीके नीचे के अतल वितल सुतलादि विवरोंमें नाग, असुर आदि का वास हुआ। स्वर्गादिलोकोंमे शुभ कर्म करने वाले महापुरुष जाते हैं। जैसे त्रिवर्गोंका सविधि अनुष्ठान करनेवाला स्वर्गलोकमे जायगा। गार्हस्थ धर्मका सविधि आचरण करनेवाले महर्षिगण तथा अवसर प्राप्त इन्द्र तथा मनु आदि अधिकारीगण महर्लोकमें जायगे। योग साधन करनेवाले भगवान् के जन-ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारीगण-जनलोकमें जाकर योग का अभ्यास करेंगे। तपस्यामे निरन्तर निरत रहनेवाले वन वासी वानप्रस्थी तपलोक जाकर अपनी तपस्याकी पूर्ति करेंगे। सन्यास धर्मका आचरण करनेवाले ज्ञानी सत्यलोक अथवा ब्रह्मलोकमें जायेंगे।

उद्धवजी ने पूछा—भगवान्! धर्मानुष्ठान, कर्मयोग, अष्टाङ्ग-योग, तपस्या तथा सन्यास से प्राप्त होनेवाले लोकोका तो आपने वर्णन किया, किन्तु जो एकमात्र आपकी ही अनन्य भाव से उपासना करते हैं, उन आपके भक्तोंको कौन सी प्रगति प्राप्त होगी? उन्हें कौनसे लोक मिलेंगे?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! यह भी कोई पूछनेकी बात है। लोकोंकी प्राप्ति तो भावनाके अनुसार होती है। जिनका चित्त तपमे ही लगा है उन्हे तपलोक की प्राप्ति होगी, जो सन्यास रूप सत्य के ही अनुष्ठान में लगे हुए हैं उन्हे सत्यलोक की प्राप्ति होगी और जो अनन्यभाव से मेरी ही उपासना करते हैं। भक्ति-योग द्वारा मेरी ही आराधना करते हैं, उन्हे मेरे परमधाम की प्राप्ति होगी। मेरा भक्त तो मुझी को प्राप्त होता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान्! ये प्राणी आपके चरणारविन्दों का परित्याग करके इस असार संसार सागर मे इधर उधर व्यर्थ क्यों भटकते रहते हैं?"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—"उद्धव! यह सब

से हो रहा है। मेरा एक स्वरूप है काल। कालयतीतिकाल। जो सबकी गणना करता रहे। काल रूप से जगत् को मैं ही कर्मों में प्रवृत्त करता हूँ। कर्म कलाप में पड़ा हुआ प्राणी सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों के प्रवाह में कभी डूबता है कभी उतराता है। अर्थात् कभी किसी योनि में जाता है कभी किसी में कभी शुभ कर्म बन गया तो देवता आदि उन्नत योनियों में चला गय, कभी पाप कर्म बन गया तो पशु, पक्षी, कीट पतंग तथा नारकीय योनियों में जाता है। इस प्रकार यह गुण प्रवाह मुझ कालात्मा भगवान् की प्रेरणा से चलता रहता है यह सब जगत् प्रकृति पुरुष के संयोग से हुआ है। छोटे से छोटा पदार्थ जैसे परमाणु, बड़े से बड़ा पदार्थ जैसे महत्तत्व, पतले से पतला जैसे आकाश, स्थूल से स्थूल जैसे पृथिवी पर्वत आदि ये सभी प्रकृति पुरुष दोनों से मिलकर ही बनते हैं। इन दोनों के संयोग के बिना किसी की उत्पत्ति संभव ही नहीं। किन्तु तुम्हें जो यह इतना प्रपंच दीख रहा है, यह सब सत्य नहीं है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तो सत्य क्या है, महाराज?"

भगवान् ने कहा—"इन सब में सत्य तो केवल शुद्ध ब्रह्मरूप से मैं ही हूं।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! आप ही तो कह रहे हो काल रूप से मैं प्रेरणा करता हूँ, प्रकृति पुरुष के संयोग से यह सब होता है, तो आप तो पुरुष ही हो, काल और प्रकृति को भी सत्य ही होना चाहिये।"

भगवान् ने गम्भीरता के साथ कहा—"इस विषय को तुम भलीभाँति विचार करो। एक सिद्धान्त है जो पदार्थ जिसके आदि और अन्त में रहता है वही सत्य है और वही बीचमें भी बना रहता है। बीच में जो उसके नाना नाम और रूप प्रसिद्ध हो जाते हैं, वे सब मिथ्या हैं। जैसे चीनी है उसके हाथी घोड़ा आदि

खिलौने बने। फिर उन्हें तोड़ कर चीनी बनाली। अब विचारिये आदि में भी चीनी थी। अन्त में भी चीनी ही शेष रह गयी। बीच में जो हाथी घोड़ा आदि भिन्न भिन्न आकृतियाँ बन गयीं भिन्न भिन्न उसके नाम हो गये उस उस समय भी चीनी कहीं चली नहीं गयी। चीनी की सत्ता उस समय भी विद्यमान् थी। अतः बीच में जो उसके नाम रूप प्रसिद्ध हुए वे मिथ्या हैं एक मात्र चीनी ही सत्य है। इसी प्रकार सबमें घटालो आदि में सुवर्ण ही था, उसके कटक आदि आभूषण बने। अब उसे सभी लोक सुवर्ण न कह कर कठा, अगूठी, कुडल तथा अन्यान्य नामों से पुकारने लगे। फिर उन्हें तोड़ दिया तो सुवर्ण का सुवर्ण ही रह गया। बीच में जब उसके कठा कुडलादि बन गये थे, तब भी सुवर्ण की सत्ता समाप्त नहीं हो गयी थी सुवर्ण तब भी था। इससे सिद्ध हुआ कि तीनों कालों में समान रूप से रहनेवाला सुवर्ण ही सत्य है उसके जो भूषणादि नाम रूप हुए वे मिथ्या हैं। तीसरा उदाहरण लीजिये।

प्रथम मृत्तिका ही थी, उसके घड़े सकोरे नाद तथा अन्यान्य मिट्टी के बर्तन बन गये। बर्तन फूट गये फिर मिट्टी की मिट्टी ही रह गयी। जब घड़े सकोरे आदि बने थे, तब भी मिट्टी कहीं चली नहीं गयी थी, मृत्तिका तब भी ज्यों की त्यों थी। मिट्टी तीनों कालों में विद्यमान थी। इससे सिद्ध हुआ एक मात्र मृत्तिका ही सत्य है उसके जो विकार हुए वे सब मिथ्या थे, वे केवल व्यवहार के निमित्त थे। उनकी सत्ता क्षणिक और व्यवहारिक थी। जैसे नाटक का पात्र। नाटक खेलने से पहिले भी वह देवदत्त था, जब नाटक खेल चुका तब भी वह देवदत्त ही रहा। बीच में वह जो रानी दासी बना था। वह व्यवहार के लिये। उस समय भी उसका देवदत्त पना नष्ट नहीं हुआ था। यद्यपि वह नाटक में दमयन्ती। तिलोत्तमा आदि नामों से पुकारा जाता था और वह उन नामों

से बोलता भी था, किन्तु उसका वह नाम रूप मिथ्या था, नाटक चलाने के लिये व्यवहार्य। तब भी जानने वाले जानते थे यह देवदत्त ही है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवान्! बीच में जो नाम रूप हुआ, उसकी भी तो सत्ता थी, उसे ही हम सत्य क्यों न मान लें।"

भगवान् ने कहा—"ऐसे तुम अपने आप 'सत्य' कैसे मान लोगे। सत्य की तो परिभाषा यह है कि जो तीनों कालों में एक रस बना रहे। कुम्हार मिट्टी की खान से मिट्टी खोदकर लाता है। उसके पिंड बनाता है। चाक पर रखता है डंडे से घुमाता है। घड़ा बनाता है। घड़ा तो उसका कार्य हुआ। चाक, डंडा, डोरा आदि घड़े बनाने में निमित्त कारण हुए। मिट्टी उपादान कारण है। घड़ा बनाने पर चाक भी घड़े से पृथक् हो गया, डंडा भी पृथक् हो गया, डोरा भी पृथक् हो गया। जल भी सूख गया। किन्तु मृत्तिका जो घड़े का उपादान कारण थी। वह घड़ा बनने पर भी ज्यों की त्यों उसके साथ बनी रही। घड़ा फूट गया, उसका घड़ापन भी नष्ट हो गया। अब कोई उसे घड़ा नहीं कहता, परन्तु मिट्टी ने साथ नहीं छोड़ा। अन्त में फिर उसकी संज्ञा मिट्टी ही रही। मिट्टी से पुनः मिट्टी होने तक उनके नाम रूप तो बहुत बने, किन्तु मृत्तिका ने उसका साथ क्षण भर को भी नहीं छोड़ा। इसलिये मृत्तिका ही सत्यसिद्ध हुई अन्य सब मिथ्या हो गये। क्योंकि किसी परम उपादान के आश्रय से किसी दूसरे कार्यरूप भाव को, पहिला उपादान कारण उत्पन्न करता है तो जो जिसके आदि अंत में रहता है वही सत्य कहलाता है, शेष सब मिथ्या हैं।"

उद्धव जी ने पूछा—"फिर इस कार्य रूप संसार का उपादान कारण कौन हुआ।"

भगवान् ने कहा—"इस दृश्य प्रपञ्चरूप कार्य का उपादान

कारण प्रकृति है, जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी सानकर उसके बनाये हुए गोले थे। जिस मिट्टी के गोले बनाये गये थे इस का परम कारण मिट्टी की खान थी जहाँ से मिट्टी लायी गयी थी। तो उस मिट्टी के पिंडों का भी परम कारण खानि थी। इसी प्रकार प्रकृति का भी अधिष्ठान परमात्मा हैं। जैसे मिट्टी के पिंड में घडा कहीं से लाकर रखा नहीं गया। घडा उसमें पहिले से ही था, उसे कुम्भकार ने प्रकट कर दिया इसी प्रकार प्रकृति मे यह दृष्य प्रपञ्च प्रथम से ही निहित था उसे मेरे अंश रूप काल ने प्रकट कर दिया। काल इस जगत् का कर्ता नहीं अपितु अभिव्यंजक मात्र है। अब प्रकृति, पुरुष और काल ये तीन ही जगत् के मुख्य कारण सिद्ध हुए। इन तीनों का भी उपादान कारण शुद्ध ब्रह्म स्वरूप मैं ही हूँ। अतः जगत मिथ्या है, एक मात्र मैं शुद्ध ब्रह्म ही सत्य हूँ।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान् ! जब यह दृष्य प्रपञ्च सब सब मिथ्या है, तो फिर इसे अनादि आप क्यों बताते हैं ?"

भगवान् ने कहा—"प्रवाह रूप से यह अनादि है। जब तक उत्पन्न हुए संसार की स्थिति हैं जब तक यह प्रलय को प्राप्त नहीं होता और जब तक इसकी ओर परमात्मा देखते रहते हैं। तब तक यह निरन्तर चलता ही रहता है। पिता ने पुत्र को उत्पन्न किया, उसने और पुत्रों को उत्पन्न कर दिया अब वह पिता बन गया, फिर उसका पुत्र पिता बन गया। परम्परा अनादि काल मे चल रही है अनन्तकाल तक चलती रहेगी।"

उद्धवजी ने पूछा—"यह ऐसी पिता पुत्र की परम्परा क्यों चलती है ?"

भगवान् ने कहा—"जीवकृत कर्मों के फल भोगने के ही लिए यह परम्परा चल रही है। जब काल आ जाता है तब प्रलय हो जाती है सब तत्व अपने कारणों मे विलीन हो जाते हैं। इन

सातों भुवनों का नाम रूप नहीं रहता जगत के पञ्चीभूत अपने अपने जनकों में एकी भूत हो जाते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवान्! आपने उत्पत्ति का क्रम तो बताया अब कृपा करके प्रलय का क्रम और बतावें। किस प्रकार प्रलय होती है। सब तत्व अपने अपने कारणों में कैसे विलीन होते हैं। अन्त में क्या बच जाता है।"

यह सुनकर भगवान् ने कहा—'उद्धव! यह तो मैंने तुम्हें बताया ही कि जो आदि अन्त में रहता है वही मध्य में भी सदा है वही सत्य है। आदि में एक मात्र मैं ही था, मुझसे ही प्रकृति पुरुष की उत्पत्ति हुई। प्रलय के अन्त में सब मुझ में ही आकर विलीन हो जाते हैं। यह विलयन कैसे होता है, इसे मैं तुम्हें समझाता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान् ने उद्धवजी को प्रलय का क्रम बताया। उस प्रसङ्ग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

सलिल माँहि सो रह्यो विराज्यो तामें हौं जब।
भयो नाभि तैं कमल प्रकट अज भये स्वय तब॥
तप करि त्रिभुवन रचे चतुरदश लोक बनाये।
मनुज, भूत, सुर, असुर लोक सब माहिं बसाये॥
प्रकृति पुरुष तैं होहि जग, काल पाइ होवें सकल।
रहूँ मस्त हौं ही सदा, मोतैं नहिं कोई प्रबल॥

सांख्य विधि से प्रलय

(१३१२)

एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थि भेदनः।
प्रतिलोमानु लोमाभ्यां परावर दृशा मया ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २४ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

प्रलय काल जब होहि कार्य कारन मिलि जावे।
देह अन्न महँ मिलै बीज महँ अन्न समावे॥
बीज भूमि महँ भूमि गन्ध जा जल, जल रस महँ।
यों क्रम तैं सब भूत लीन ह्वै जावें नभ महँ॥
इन्द्रिय, मात्रा, भूत गन, अहंकार महँ होहिँ लय।
अहंकार महतत्व महँ, प्रकृति माँहि सोऊ विलय॥

प्रकृति का ऐसा नियम है जो जिससे उत्पन्न होता है, अन्त मे वह उसी में लीन हो जाता है। घड़ा मिट्टी से उत्पन्न होता है अन्त में मिट्टी ही हो जाता है देह पंच भूतों से उत्पन्न होती है,

*भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं—"उद्धव! यह मैंने तुमसे अनुलोम और प्रतिलोम क्रम से सांख्य की विधि बतायी यह संशयरूप हृदय ग्रन्थि का खोलने वाली है। मैं स्वयं कार्य—कारण का साक्षी हूँ।

अन्त मे पच भूतो में ही मिल जाती है। वृक्ष बीज से ही उत्पन्न होता है अन्त मे बीज ही रह जाता है। आभूषण सुवर्ण से बनते हैं अन्त मे उसी मे लीन हो जाते हैं। जिसका जो कारण होगा वह कार्य को अपने मे मिला लेगा। जो स्वयं किसी का कारण नहीं और वही सब का एक मात्र कारण है अन्त में सब उसी मे आकर समा जाते हैं। इसी लिये भगवान् को 'अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहते हैं। उपादान कारण उसे कहते हैं अपने को लेकर कार्य को कर दे। निमित्त कारण उसे कहते हैं जो उस कार्य में सहायता दे। जैसे घडे का उपादान मिट्टी है। मिट्टी से ही घडा बनता है। मिट्टी मे घडा व्याप्त है, किन्तु स्वय मिट्टी घडा नहीं बना सकती। उसके बनने बनाने के लिये उपकरण चाहिये। एक तो बनाने वाला कुम्हार चाहिये, चाक चाहिये डोरा चाहिये, और भी आवश्यक वस्तुएँ चाहिये। ये सब निमित्त कारण हैं। मिट्टी न हो तो इन सब वस्तुओं के रहने पर भी घडा नहीं बन सकता और मिट्टी चाहे जितनी रही हो, जब तक उसका बनाने वाला तथा बनाने को सामग्री न हो तब तक घडा बन नहीं सकता। इसलिये उपादान कारण और निमित्त कारण दो का होना आवश्यक है। किन्तु भगवान् के लिये यह बात नहीं। इस ससार क वे ही उपादान कारण हैं और वे ही निमित्त कारण भी हैं। अपने आप से ही बिना बाह्य उपकरणों के वे इस जगत् को बना भी लेते हैं और फिर अपने आप ही बिना किसी की सहायता के समेट भी लेते हैं। जैसे मल्लाह के लिये तो जाल बनाने के लिय सूत रस्सी आदि उपकरणों की आवश्यकता है, इन सब के बिना वह जाल नहीं बना सकता, किन्तु मकडी के लिये जाल बनाने के लिये किसी भी बाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं। वह अपने आप ही मुख में से सूत निकाल कर उस सूत से जाल बना लेती है। जितने काल तक उसकी इच्छा होती है, विहार करती है,

मे फिर जब उसे समेट ने की इच्छा होती है, सब को अपने पेट मे समेट कर एकाकी तान दुपट्टा सो जाती है। वह।अपने जाल का उपादान कारण भी है निमित्तकारण भी है। इसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् हरि से ही उत्पन्न हुआ है। हरि ही जगत् हैं जगत् ही हरि है। जब उनकी इच्छा होती है स्वयं ब्रह्मा बन कर सृष्टि करते हैं, विष्णु बन कर स्वयं ही की हुई सृष्टि का पालन करते हैं और अन्त मे रुद्र बन कर उसका संहार करके एक अद्वय होकर लेट लगाते हैं। सृष्टि होती है प्रलय के लिये। प्रलय होती है सृष्टि के लिये। सूय उदय होते हैं अस्त होने के लिये। अस्त होते है उदय के लिये। जिसको सृष्टि, स्थिति और लय का ऐसा पूर्ण ज्ञान हो जाता है, वह फिर किसी भी घटना से मोह को प्राप्त नहीं होता।

सूतजी कहते है—'मुनियो ! जब उद्धव जी ने भगवान् से प्रलय के सम्बन्ध मे प्रश्न पूछा, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव ! यह संसार उत्पत्ति और विनाश शील है। बार बार उत्पन्न होता है, बार बार विलीन हो जाता है। जिसकी उत्पत्ति है उसका नाश है, जिसका नाश है उसकी उत्पत्ति है। यह जो दृश्य प्रपञ्च विराट् रूप से अवस्थित है इसकी जैसे उत्पत्ति होती है वैसे ही इसका विनाश भी होता है। स्थूल वस्तु सूक्ष्म मे विलीन होती जाती है।"

उद्धव जी ने कहा—"सब से स्थूल वस्तु ससार मे क्या है ?"

भगवान् ने कहा—"सब से स्थूल वस्तु है देह और सब से सूक्ष्म सब व्यापक वस्तु है आत्मा। आत्मा से ही यह सब उत्पन्न हो गया है आत्मा में ही सब का उपसंहार हो जाता है।"

उद्धव जी ने पूछा—"देह किसे कहते हैं महाराज ?

भगवान ने कहा—"जिसमें देही रहे वही देह। जैसे पर्वत

की देह वृक्ष की देह, हाथी की देह मनुष्य की देह तथा चींटी आदि की देह। सब देह अन्न से उत्पन्न होती हैं।"

उद्धव जी ने पूछा—"अन्न क्या है महाराज ?

भगवान् ने कहा—"अत्तीति अन्न। जो खाया जाय वही अन्न है। संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो खाई न जाती हो, जो किसी न किसी का आहार न हो। अन्न का नाम ओषधि भी है। इसी लिये वैद्यक शास्त्र वाले कहते हैं—"संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो ओषधि न हो। गौ का अन्न घास है। कूकर सूकर आदि का अन्न विष्ठा है। बड़ी मछलियों का अन्न छोटी मछलियाँ हैं। अन्न से देह की उत्पत्ति है। देह कार्य है अन्न कारण है। प्रलय काल समुपस्थित होने पर देह रूप कार्य अपने कारण रूप अन्न में विलीन हो जाती है। प्रलय कालीन वर्षा होने पर देह नहीं रहतीं। केवल अन्न शेष रह जाता है।

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! अन्न की उत्पत्ति किससे है?"

भगवान् ने कहा—"अन्न उत्पन्न होता है बीज से। बीज न हो तो अन्न की उत्पत्ति न हो।"

उद्धव जी ने पूछा—"अन्न में और बीज में क्या अन्तर है, हम तो अन्न को ही बीज समझते हैं?" अन्न के दाने हैं जैसे गेहूँ जौ आदि। वे ही बीज हैं। उन्हें बोने से दूसरे बीज उत्पन्न होता है। यदि अन्न ही बीज होता तो चावल बोने से अंकुर क्यों नहीं उत्पन्न होता। उसका छिलका पृथक कर देने से उसमें अन्न तो रहता है, उसका बीजत्व नष्ट हो जाता है। गेहूँ चना आदि का भून देने से वह अन्न तो रहता है, किन्तु उसका बीजत्व निर्बल हो जाता है। इसलिये बीज का देह अन्न है। अन्न में बीज रहता है।"

उद्धव जी ने पूछा—"बीज किस से उत्पन्न होता है?"

भगवान् ने कहा—"बीज उत्पन्न होता है भूमि से भूमि न

हो, तो बीज की उत्पत्ति ही न हो। भूमि सब के बीजों को उत्पन्न करती है और समय आने पर सब बीजों को अपने मे छिपा भी लेती है महाराज पृथु ने पृथिवी को डाँट डपट कर उससे छिपाये हुए बीज निकलवाये थे, क्यों कि तब प्रलय का समय तो था नहीं। जब प्रलय का समय आता है तब सब बीज भूमि अपने गंध गुण में विलीन हो जाती है। गन्ध की उत्पत्ति जल से है, गन्ध से ही पृथिवी उत्पन्न होती है। पृथिवी की तन्मात्रा गन्ध है इसी लिये पृथिवी गन्धवती कही जाती है। पृथिवी गुणवती है गन्ध उसका गुण है। पृथिवी जब गन्ध को छोड देती है—स्वयं गन्ध मे समा जाती है—तो पृथिवी के बिना गन्ध रह नहीं सकती। वह भी अपने कारण जल में विलीन हो जाती है।"

उद्धव जी ने पूछा—"जल का गुण क्या है ?

भगवान् ने कहा—"जल का गुण है रस। जब जल रस में लीन हो जाता है, तो जल के बिना रस रह नहीं सकता। जैसे सूर्य के बिना प्रभा नहीं रहती। तब रस अपने कारण तेज में समा जाता है। तेज भी अपने कारण रूप में समा जाता है। जब तेज नहीं तब रूप कैसा ? अँधेरे मे कोई भी रूप दिखायी नहीं देता। रूप तेज के बिना रह ही नहीं सकता, अतः वह अपने पिता वायु के शरीर में छिप जाता है। वायु का गुण है स्पर्श अतः वायु स्पर्श में विलीन हो जाता है, वायु के बिना स्पर्श का अस्तित्व संभव नहीं अतः स्पर्श आकाश मे विलीन हो जाता है। शब्द देही है और आकाश देह है। सब से प्रथम शब्द हुआ तब उसके रहने को आकाश की उत्पत्ति हुई। शब्द आकाश के बिना रहेगा कहाँ, जब आकाश अपनी तन्मात्रा शब्द में विलीन हो गया। शब्द तन्मात्रा पाचों भूतो के जनक तामस अहंकार मे लीन हो गया।

उद्धवजी ने पूछा—' महाराज ! इन्द्रियो का क्या हुआ ?"

हँसकर भगवान् ने कहा—"इन्द्रियों का वही हुआ जो अन्न, जल और वायु के बिना प्राणों का होता है। जब इन्द्रियों को विषय न प्राप्त होंगे तो वे करेंगी क्या। मीन को रहने को जल न मिले तो वह अपने कारण में लीन हो जायगी मर जायगी। इन्द्रियों के विषय शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जब ये ही नष्ट हो गये, पंच भूत रहे नहीं तो इन्द्रियाँ भी अपने कारण भूत राजस अहंकार में लीन हो गयीं।

उद्धव जी ने कहा—"फिर इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव तथा मन कहाँ रहे ?"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई ! जिसका घर ही नष्ट हो गया, वह रहेगा कहाँ। जब इन्द्रियाँ ही नहीं रहीं तो उनके अधिष्ठातृ-देव तथा उनका प्रेरक मन ये सब भी अपने पिता सात्विक अहंकार में लीन हो गये। अब शेष रह गया त्रिविध अहंकार। उसने देखा, जब सब अपने अपने जनक के अंक में लीन हो रहे हैं, तो मैं अकेला रह कर करूगा भी क्या। यही सब सोच समझकर सम्पूर्ण जगत् को मोहित करने वाला वह अहंकार अपने कारण महत्तत्व में लीन हो गया। महत्तत्व मे ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति दोनों ही मिली हुई थीं। क्रिया शक्ति प्रधान सूत्रात्मा था और ज्ञान शक्ति प्रधान महत्तत्व। अपनी ज्ञान और क्रिया दोनों शक्तियों से युक्त वह महत्तत्व अपने कारण भूत तीनों गुणों में लीन हो गया। तीनों गुण अपनी माता प्रकृति की गोद में समान रूप से समा गये। काल आने पर प्रकृति उस अव्यय काल में विलीन हो गयी, जिसके आने पर उसमें क्षोभ हुआ और वह प्रसवोन्मुखी हुई।"

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन् ! काल का पर्यवसान किस में हुआ।"

भगवान् ने कहा—"काल जीव में लीन हो गया और जीव आत्मा में।"

उद्धव जी ने पूछा—"जीव में और आत्मा में अन्तर क्या ?"

भगवान् ने कहा—"अन्तर क्या है अंश और अंशीका अन्तर है। परमात्मा अंशी है जीवात्मा अंश है। परमात्मा माया से रहित है, जीव माया मय है। जीव गुणों के संसर्ग से बद्ध सा हो जाता है, परमात्मा अज अव्यय तथा एक रस है। जीव का परमात्मा आश्रय है, परमात्मा का कोई आश्रय नहीं। जीव आत्मा में लीन होता है, परमात्मा का किसी में लय नहीं यह संसार की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का अधिष्ठान है। उससे कोई ज्येष्ठ नहीं श्रेष्ठ नहीं उसके कोई समान भी नहीं वही काष्ठा है वही परा गति है। वही सब की एक मात्र अन्तिम अवधि है। वह परमात्मा मैं ही हूँ। मुझ से ही सब का उत्पत्ति है और मुझ में ही सब का पर्यवसान है। जगत् में सर्वत्र मैं ही व्याप्त हूँ। मेरे अतिरिक्त सत पदार्थ कोई अन्य है ही नहीं।"

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! इस नाना रूपों में भासित होने वाले संसार को देख कर फिर भ्रम क्यों हो जाता है ?"

भगवान् ने कहा—"भ्रम होता है अज्ञान से। जब जीव असत् को सत् समझ लेता है, अनित्य में नित्य बुद्धि कर लेता है तभी वह माया मोहित होकर भ्रम में पड़ जाता है और जान बूझकर दुःखों को मोल ले लेता है। जिसे गुरु कृपा और सत्संग से यह बोध हो गया कि संसार में एक मात्र मैं परमात्मा ही सत् हूँ, तब उसे इस मिथ्या प्रपञ्च में भ्रम कैसे उत्पन्न हो सकता है।"

उद्धव ने कहा—"भगवन्! यह संसार तो ऐसा मोहक है कि बड़े बड़े ज्ञानियों को भी मोह हो जाता है।"

भगवान् ने कहा—"भैया! ज्ञानियों को तो कभी मोह होता नहीं। हाँ मेरी मोहिनी माया की प्रबलता से कभी कभी ज्ञानियों

को भी इस संसार की स्फूर्ति हो जाती है, किन्तु वह चिरकाल तक उनके हृदय में ठहरती नहीं। जैसे भगवान् शंकर को मेरा मोहिनी रूप देख कर कुछ काल को मोह हो गया था, किन्तु जहाँ उन्हें स्मृति हुई तहाँ वे तुरन्त अपनी निष्ठा में अवस्थित हो गये। जैसे सूर्य कभी कभी बादलों से ढक जाता है, जहाँ बादल हटे तहाँ वह पुनः पूर्ववत प्रकाशित होने लगता है। सूर्य के प्रकाशित होने पर फिर अन्धकार रह ही कैसे सकता है ?"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! यह मैंने तुम से सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय की कथा सुनायी। देखो कार्य और कारण का एक मात्र साक्षी मैं ही हूँ। मेरे द्वारा ही इस प्रपञ्च की सृष्टि होती है और मुझ में ही यह विलीन हो जाता है। जो इस सृष्टि और प्रलय के क्रम को ध्यान पूर्वक सुनता समझता है, उसका अज्ञान दूर हो जाता है। उसके हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है, सब संशय मिट जाते हैं और वह कर्म बन्धनों से विमुक्त बन जाता है। यह मैंने सांख्य विधि से प्रलय और सृष्टि का वर्णन किया, अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ?"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन् ! मैं यह जानना चाहता हूँ, कि सब मनुष्य एक से ही विचार के क्यों नहीं होते ? इनमें इतनी भिन्नता क्यों होती है ?"

भगवान् ने कहा—"सत्व, रज और तम इन गुणों के कारण भिन्नता होती है। भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ गुणों के ही कारण होती हैं।"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन् ! मुझे गुणों की प्रवृत्तियों के विषय में समझावें। किस गुण की कैसी प्रवृत्तियाँ होती हैं ?"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, अब मैं तुम्हें तीनों गुणों की प्रवृत्तियों के ही विषय में बताऊँगा।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! अब जिस प्रकार भगवान् ने

गुणों की प्रवृत्तियों का निरूपण किया, उसे मैं आप को सुनाता हूँ।"

छप्पय

प्रकृति काल महँ विलय जीव महँ काल समावे।
हों अव्यक्त अनादि जीव मोमें मिलि जावे॥
नहिं काहू में मिलूँ अवधि सब की हौं उद्धव।
अति समास तै कही सृष्टि लय कहँ कहा अब॥
बोले उद्धव—"नाथ अब गुन वृत्तिनि वरनन करें।
क्यों प्रानिनि महँ विषमता, नट नागर संशय हरें॥

प्रभाव सभी पर पड़ता है। जो शुद्ध सत्वगुण प्रधान हैं उनको भी कभी समय आने पर रज और तम दबा लेता है। इसके विपरीत जो घोर रजोगुणी या तमोगुणी हैं, उनके जीवन में भी सत्वगुण का उदय होता है। जो गुणो मे वर्त रहा है गुणों के अधीन होकर कर रहा है उसका आवागमन छूटता नहीं, किन्तु जो गुणातीत हो गये हैं देह और आत्मा के रहस्य को जिन्होंने भली भाँति समझ लिया है फिर वे संसार के चक्कर मे नहीं फँसते उनका आवागमन नष्ट हो जाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने तीनों गुणों की वृत्तियो के सम्बन्ध मे पूछा, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! सत्व, रज और तम ये तीन गुण, जिस समय जिस गुण का प्राबल्य होता है वैसे ही कार्य होने लगते हैं। यदि सत्व गुण का प्राबल्य हुआ, तो सात्विक भाव उठने लगते हैं, रजोगुण के प्राबल्य से रजोगुणी वृत्तियाँ हो जाती हैं और तमोगुण की अधिकता से तमोगुणी।"

उद्धवजी ने पूछा—" सत्वगुण के प्राबल्य होने पर कैसे भाव होते हैं, सत्वगुण की कोन कौन सी वृत्तियाँ हैं।"

भगवान् ने कहा—"सत्वगुण का वर्ण शुभ्र है। सत्व की वृद्धि होने पर शुभ विचार होते हैं। सत्व से ज्ञान होता है, इसलिये ज्ञान की सहायिका वृत्तियाँ उठती है। जैसे शम और दम मन तथा इन्द्रियो को वश मे करने की इच्छा होना। सुख दुख में समभाव रखना, द्वन्द्वो को सहन करना। यह सत् है यह असत् है इसका विवेक बना रहना। तप करने में मन का लगा रहना सत्य का आचरण करना। मुख से वाणी बोलना सत्य ही बोलना व्यवहार में सत्य का अनुसरण करना, मन से सत्य बात ही सोचना, प्राणिमात्र के प्रति दया के भाव रखना, दीन दुखियो के दुःखों को देखकर द्रवित हो जाना। किसी कार्य को सहसा न

कर डालना। कार्य करते समय पूर्वापर का विचार रखना कि इस कार्य के करने से लाभ है या हानि इसका अन्तिम परिणाम क्या होगा। जो कुछ भी भाग्यवश मिल जाय उसी पर सन्तोष रखना। निरन्तर योग क्षेम की चिन्ता में निमग्न न रहना। मन में संग्रह की इच्छा का न रहना निरन्तर योग में ही चित्त को लगाये रखना। जो भी अपने पास वस्तु हो यदि उससे दूसरे का भला होता हो तो उसे तुरन्त दे डालना। विषयों के प्रति उदासीन बने रहना। विषय सम्मुख हो भी तो भी उन्हें अधर्म पूर्वक सेवन न करना। सत्कार्यों में, सज्जनों में, सत्संग में तथा प्रत्येक शुभ कार्य में श्रद्धा रखना। बड़ों के सम्मुख संकोच पूर्वक बात करना, बुरे कर्मों के मन में आने पर भी लजा जाना। अपनी लज्जा की शक्ति भर रक्षा करना। यथा शक्ति दान देना, दुखी प्राणियों को देखकर यथाशक्ति उनकी रक्षा करना, यदि दुष्ट किसी को कष्ट देते हों, तो उन्हें दुष्टता से निवृत्त करना। सुख के लिये वाह्य उप करणों की अपेक्षा न रखना, अपने आप में ही तुष्ट रहना आत्मा के साथ ही क्रीड़ा करना आत्मरति का अनुभव करना ये सब सत्वगुण की प्रवृत्तियाँ हैं। जिसके हृदय में इस प्रकार की वृत्तियाँ निरन्तर उठती रहे उसे सत्वगुण प्रधान पुरुष समझना चाहिये।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! रजोगुण की कौन कौन सी वृत्तियाँ हैं?'

भगवान् ने कहा—"रजोगुण का वर्ण रक्त है। कर्मों में प्रवृत्ति होना यही रजोगुण का कार्य है। भाँति भाँति की इच्छाओं का उठना यह रजोगुण का ही कार्य है। यह करेंगे वह करेंगे। वहाँ जाने से हमारा सम्मान होगा, उस कार्य के करने से हमारी प्रसिद्धि होगी, इस प्रकार की अनेक इच्छायें रजोगुण से ही हैं। कर्मों में प्रवृत्ति बिना रजोगुण के हो ही नहीं सकती,

मन में जो इच्छा उठी उसके लिये प्रयत्न आरम्भ कर दिया। वहाँ से धन इकट्ठा करना, वहाँ से लोगो को संग्रह करना, अमुक से मिलकर अमुक विषय पर चर्चा करना शीघ्रगामी यान पर चढकर वहाँ पहुँचना, इस प्रकार के अनेक प्रयत्न रजोगुण द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। रजोगुण की प्रथम प्रवृत्ति है अभिमान अभिमानी रजोगुणी सदा मूँछ मरोडता रहेगा। ठसक के साथ चलेगा। गेष पूर्वक इधर उधर निहारेगा अमुक ने मेरी नहीं मानी, अमुक ने मेरा सम्मान नहीं किया, उसने मुझे समझ क्या रक्खा है, उसे लोहे के चने चबवा दूँगा। इस प्रकार की अभिमान पूर्ण बाते करना। विषयों की मन में तृष्णा बनी रहना। भोग्य पदार्थो की प्राप्ति के लिये निरन्तर चिन्तित रहना। भोगों को भोग लेने पर भी तृप्त न होना। अपने को बहुत कुछ समझना अपने से जो छोटे लोग हैं उनसे बातें न करना, बात बात पर गर्वोक्ति का प्रयोग करना। धन की चिन्ता बनी रहना। यश के लिये परोपकार सम्बन्धी काम करना उनके लिये लोगों से दान के रूप मे धन लेना अथवा देवताओं से धन का याचना करना। सकाम अनुष्ठान करके उनके द्वारा धन तथा भोगों की अभिलाषा रखना, छोटे बड़े का सदा भेद भाव रखना। अमुक हमारे समीप आ सकता है, अमुक का अधिकार नहीं है। अमुक हमारे बराबर कैसे बैठ गया, हमारे लिये सब से ऊँचा आसन लगाना चाहिये हम सर्व साधारण के साथ नहीं बैठ सकते। अमुक के साथ व्यवहार करना हमारी पद प्रतिष्ठा के प्रतिकूल है। प्रत्येक बात मे प्रत्येक स्थान में भेद बुद्धि करना, विषय सुख के लिये सदा समुत्सुक बने रहना, विषयों का ही निरन्तर चिन्तन होना। रजोगुणी कामों मे उत्साह दिखाना। उसे मारना है तुरन्त घोड़े पर चढ़कर चल दिये, अमुक से लड़ना है, अमुक को नीचा दिखाना है, अमुक के विरुद्ध व्यर्थ आरोप लगाने हैं, अमुक पर

अभियोग लगाना है, अमुक को जनता की दृष्टि में हेय सिद्ध करना है। इस प्रकार मद जनित कार्यों में अत्यन्त स्फूर्ति का अनुभव होना। जो भी काम करना अपनी प्रशंसा के ही निमित्त करना। इधर उधर से धन संग्रह करके कोई सार्वजनिक भवन बनवाया, किन्तु उसके द्वार पर अपना नाम अवश्य खुदवा देना, जो लोग अपनी झूठी सच्ची कैसी भी प्रशंसा करें उनका सम्मान करना, यथाशक्ति उनकी सहायता करना, जो अपने कामों की प्रसिद्धि करे उसका आभार मानना, पद उपाधि के लिये प्रयत्नशील होना। सारांश यह कि जिन कामों से अपनी प्रशंसा होती हो उनसे प्रेम रखना।

हास्य रसका आलम्बन करना। हास्यरस की बातों में, हास्यरस की पुस्तकों में प्रेम रखना, निरन्तर सांसारिक कामों में जुटे ही रहना, इधर उधर के कार्यों में पुरुषार्थ प्रकट करना। तथा बल पूर्वक उद्यम आदि करना ये सब रजोगुण की प्रवृत्तियाँ हैं। रजोगुण के बिना इन सांसारिक कार्यों में इतना उत्साह इतनी चंचलता, इतनी तत्परता तथा इतनी लगन होती ही नहीं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! तमोगुण की कौन कौन सी वृत्तियाँ हैं ?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! क्रोध तमोगुण के बिना आता ही नहीं। काम तो रजोगुण का कार्य है किन्तु जहाँ काम क्रोध के रूप में परिणित हो गया, वहाँ समझो तमोगुण ने अपना अधिकार जमा लिया। क्रोध में हिंसा का होना अनिवार्य है अतः किसी को क्रोध में भर कर मार डालना यह तमोगुण है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! क्षत्रिय भी तो युद्ध में क्रोध करके शत्रुओं को मार डालता है लोगों की हिंसा करता है, तो क्या यह काम भी तमोगुणी है ?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, यह तो क्षत्रिय का धर्म है, यह तो

कर्तव्य पालन है, इसका नाम हिंसा न होकर वीरता है। वह तो शत्रु को ललकारता है और उससे वीरता पूर्वक युद्ध करता है युद्ध मे सम्मुख प्राण त्यागने से सीधा स्वर्ग जाता है। हिंसा तो उसे कहते हैं कोई जा रहा है पीछे से उसके पेट मे छुरी भोंक देना, कोई असावधान है, क्रोध में भरकर उसे मार देना। जब क्रोध में भरकर आदमी अपने आपे मे नहीं रहता तो उसे समझना चाहिये यह घोर तमोगुण मे व्याप्त है, उस समय वह शूर वीर न कहलाकर आततायी हो जाता है, आततायी को मार देने में भी कोई दोष नहीं।

उद्धवजी ने कहा—"हाँ, भगवन्! हिंसा और वीरता का अन्तर मैं समझ गया, अब आप कृपा करके मुझे तमोगुण की अन्य वृत्तियों को भी बतावें।"

भगवान् बोले—"उद्धव! लोभ होना भी तमोगुण है। लोभ में क्या होता है, मेरा सोना चाँदी तथा अन्यान्य धन नष्ट न होने पावें बढ़ता ही जाय। इन तमोगुण प्रधान जड़ पदार्थों में अभिनिवेश हो जाना यह घोर तमोगुण है। जब जड़ पदार्थों में आसक्ति हो जाती है, तभी आदमी मिथ्या भाषण करता है। लोभ वश ही आदमी असत्य बोलता है, अतः लोभ और असत्य दोनों ही तमोगुण के कार्य हैं। जिस किसी से याचना करना जैसे हम हैं नहीं वैसा अपने को प्रकट करना दम्भ पाखण्ड का आश्रय लेना, अत्यधिक शारीरिक परिश्रम करना, आपस मे कलह करना, बात बात मे लोगों से लड जाना, मन में शोक मोह और विषाद का होना। दूसरों को पीडा पहुँचाना, स्वयं दूसरों से अपने को पीडित होने की सदा शंका बनी रहना। अत्यधिक निद्रा का आना, जहाँ आशा की क्षीण रेखा भी न हो, वहाँ भी अत्यधिक आशा रखना, मन मे सदा दूसरे का भय बना रहना, कुछ भी काम करने की इच्छा न होना,

पड़े ऊँघते रहना तथा निरुद्योगी होकर आलस्य तन्द्रा का सहारा लेना ये सबकी सब तमोगुण की वृत्तियां हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! यह तो आपने सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणों की वृत्तियों का पृथक् पृथक् वर्णन किया। यह तो दाल, चावल तथा गेहूँ की रोटी इनके समान तीनों वस्तुएँ पृथक् पृथक् हैं। जैसे दाल चावल मिलकर खिचडी हो जाती है या गेहूँ, जौ चना, चूनी और मटर मिलकर पँचमेल रोटी बनती है वैसे ही इन गुणों की खिचडी होती हैं? भगवान् ने कहा- "उद्धव ! खिचडी तो सभी मे हो जाती है। तीनो गुणों में भी खिचड़ी होती है। वैसे तीनों मिले जुले ही रहते हैं, किन्तु कुछ बातें तीनों मे एक सी होती हैं, कुछ मिल जुलकर वर्ण संकरता उत्पन्न करती हैं। एक पुरुष मे ही कभी सत्वगुण की प्रधानता हो जाती है कभी रजोगुण की और तमोगुण की। ये तीनों आपस मे इतने मिले जुले हैं, कि विना गुणातीत हुए इन तीनों में से एक का भी अत्यन्ताभाव होना अत्यन्त कठिन है।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! अब इन तीनों की मिली जुली वृत्तियों की ही सम्बन्ध मे मुझे बताइये और यह भी समझाइये कि किस गुण के बढ़ने से कैसी वृत्ति हो जाती है, हम कैसे समझें अब सत्वगुण बढ़ रहा है, रजोगुण या तमोगुण।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है अब मैं तीनों गुणों का मिली जुली वृत्तियों के ही सम्बन्ध मे बताऊँगा और गुणों की पहिचान के सम्बन्ध में भी कहूँगा।"

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! अब भगवान् जिस प्रकार उद्धवजी को तीनों गुणों की मिली जुली वृत्तियों के सम्बन्ध तथा तीनों गुणों के कार्य के सम्बन्ध में बतावेंगे। उसका वर्णन मैं

आगे करूँगा। आप इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय को सावधानी के साथ श्रवण करें।

छप्पय

क्रोध, लोभ, पाखण्ड, कलह, श्रम, शोक, मोह, भय।
मिथ्याभासन, नींद, याचना, हिंसा, अपचय॥
पीडा और विषाद व्यर्थ आशा नित मन मह।
अनुद्योग है रहै अधिक ममता निज तन महँ॥
बढ़ै तमोगुन देह महँ, होवें ये सब वृत्ति तब।
पृथक कहीं गुन वृत्ति सब, सन्निपात गुन सुनहु अब॥

गुणों का सन्निपात और उनका स्वरूप

(१३१४)

धर्मे चार्थे च कामे च यदासौ परिनिष्ठितः ।
गुणानां सन्निकर्षोऽय श्रद्धारति धनावहः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २५ अ० ७ श्लो०)

छप्पय

अहङ्कार सुन उद्धव ! होवे तीनिहु गुन महँ ।
इन्द्रिय, मन अरु विषय प्रान तीनिहु गुन इन महँ ॥
धरम, अरथ अरु काम होइ इच्छा जब मन महँ ।
सन्निपात गुन होहि चित्त श्रद्धा, रति धन महँ ॥
गृह रति, रुचि कर्तव्य महँ, करम कामना के सहित ।
समुझहु खिचरी गुननि की, सुनु स्वभाव गुन लाइ चित ॥

जैसे त्याग, सन्तोष, तप, शम, दम दया तथा तितिक्षा आदि सत्व गुण से ही होते हैं, तृष्णा, अभिमान, इच्छा प्रयत्न आदि रजोगुण से और निद्रा, आलस्य, प्रमाद तथा क्रोधादि तमोगुण

---

* भगवान् श्री कृष्ण चन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव ! जब मनुष्य धर्म मे, अर्थ मे अथवा काम में प्रवृत्त होता है, तो वह भी तीनों गुणों की मिलावट (खिचड़ी) ही है। इस मिलावट के परिणाम स्वरूप उसे श्रद्धा, धन और रति की प्राप्ति होती है।

से ही होते हैं। वैसे ही कुछ ऐसे कर्म हैं जो तीनो गुणो मे ही हो सकते हैं। जैसे सात्विक भोजन है सुन्दर है, शुद्धता से बनाया है चिकना है सब उसमें सात्विक गुण है, किन्तु परिणाम से अधिक खा लिया तो वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद को ही उत्पन्न करेगा, सात्विक होने पर भी परिणाम मे वह तामस ही सिद्ध होगा। हिंसा तामस कार्य है, किन्तु कोई बलात्कार करता हो या और कोई आततायीपने का काम करता हो, उसे मार देना शुद्ध सात्विक कार्य है। एक अहंकार को ही ले लीजिये, अहंकार राजस कार्य है। किन्तु त्यागी विरागियों को भी तो अहंकार होता है। भक्त बडे गर्व से कहते हैं—"मैं भगवद्दास हूँ, प्राणिमात्र का किंकर हूँ। अब मैं शान्त हो गया हूँ इत्यादि। यद्यपि यह है तो अहंकार किन्तु सात्विक अहंकार है। मैं बली हूँ, दुर्जय हूँ, मुझसे कौन जीत सकता है। यह राजस से अहकार है। मैं तो यहाँ आलस्य में पडा ऊँघ रहा हूँ, मुझे मोह तथा विषाद हो रहा है यह तामस अहंकार है। इसी प्रकार कुछ कामों में तीनो मिले जुले रहते हैं इसे सन्निपात कहते हैं।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! उद्धव के पूछने पर भगवान् गुणों का सन्निपात बताते हुए कह रहे हैं—"उद्धव! मैं हूँ, यह मेरा है इस प्रकार की बुद्धि में तीनो गुणो का ही समावेश हो सकता है। मैं भक्त हूँ, मैं बली हूँ, मैं क्रोधी हूँ, भगवान् मेरे हैं, यह राज्य मेरा है। यह बासी अन्न मेरा भोज्य है। इस प्रकार तीनों ही गुणों में मैं मेरी का व्यवहार हो सकता है। प्राण, इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषय तथा मन इन सबके संयोग से जो कार्य होते हैं, उनमे भी तीनो गुणो का समावेश होता है। इन सबके मेल से जो व्यवहार होते हैं, वे सात्विक भी हो सकते हैं, राजस तथा तामस भी होते हैं। त्रिवर्ग की प्राप्ति में भी तीनों गुणों का सन्निपात रहता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"त्रिवर्ग मे तीनों गुणों का सन्निपात कैसे होता है ?"

भगवान् ने कहा—"धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का नाम त्रिवर्ग है। धर्म सात्विक वृत्ति है, अर्थ राजस और कामसुख तामस वृत्ति है। इन तीनों का परिणाम भी पृथक्-पृथक् होता है, धर्म से श्रद्धा उत्पन्न होती है। धार्मिक कार्य सत्वगुण से होते हैं और उनके करते रहने से श्रद्धा की वृद्धि होती है। अर्थ का चिन्तन करते रहने से धन की प्राप्ति होती है और काम से रति-सुख मिलता है। तीनों यद्यपि एक ही हैं तीनों की त्रिवर्ग संज्ञा है, किन्तु गुणों के अनुसार प्रवृत्तियाँ पृथक्-पृथक् हैं और इनके परिणामों में भी भेद है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि नित्य नैमित्तिक जो कर्म हैं वे तो छोड़े नहीं जाते। उनमें तो धर्म भीरुता तथा स्वभावानुसार मनुष्य लगा ही रहता है, साथ ही सकाम कर्मानुष्ठानों में भी प्रम रहता है, घर भी नहीं छोड़ा जाता। उसमें भी पूरी आसक्ति बनी रहती है। ऐसी स्थिति जब हो, तो समझना चाहिये इस समय तीनों गुण मिले जुले हैं, तीनों गुणों का सन्निपात हो रहा है।–इसी प्रकार गुणों का साङ्कर्य होने से वृत्तियों और कार्यों में भी सङ्करता आ जाया करती है। मनुष्यों में तीनों गुण रहते हैं। जिनमें सत्वगुण की प्रधानता होती है वे सत्वगुण प्रधान पुरुष कहलाते हैं, जिनमें रजोगुण की प्रधानता होती है, सत्व और तम अति न्यून होते हैं वे रजोगुणी और तमोगुण प्रधान होने से सब लोग तमोगुणी कहते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज इनकी पहिचान कैसे हो ? हम कैसे जान ये सत्वगुण प्रधान हैं या रजोगुणी है ?"

भगवान् ने कहा—"जिसका स्वभाव शान्त हो, बहुत बकवाद न करता हो, भाग्यवश जो भी सुख दुःख आ पड़े उन्हें भाग्य

समझकर सहन करता हो, सत्य व्यवहार करता हो, किसी को कष्ट देने का मन से भी विचार न करता हो, बुरे कामों से सदा बचता रहता हो, जिसके मुख से सदा शान्ति टपकती रहती हो, उसे समझ लेना चाहिये कि यह सात्विक स्वभाव का पुरुष है।

जिसके मुख मंडल पर रोष ज्यादा रहता हो; काम भोगों की इच्छा सदा बनी रहती हो, सदा विषय भोगों की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील बना रहता हो। कटु, आम्ल अति तीक्ष्ण चरपरे पदार्थों के खाने की रुचि बनी रहता हो, अपनी प्रशंसा जिसे अधिक प्रिय हो, गर्व अभिमान तथा मद आदि से व्याप्त हो ऐसी ही अन्य बातों को देखकर समझ लेना चाहिये यह रजोगुणी वृत्ति का पुरुष है।

जिसे निद्रा, आलस्य प्रमाद बहुत आता हो, जो क्रोधी हो, शुचि अशुचि का विशेष ध्यान न हो, झूठ बोलने हिंसा करने तथा कलह करने में जिसे आनन्द आता हो, जिसे अपवित्र, बासी तथा जूठा कूठा खाने में किसी प्रकार का सकोच न होता हो, इसी प्रकार की और भी तमोगुणी बातें जिसमें हों उसे तमोगुणी वृत्ति का व्यक्ति मान लेना चाहिये। मेरे भजन करने वाले भी तीनों गुण वाले होते हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज! आपका भजन तो सत्व प्रधान पुरुष ही करेंगे, रजोगुणी तमोगुणी आपका भजन क्यों करेंगे। सत्वगुण प्रधान पुरुष तो आपको पाना चाहते है इसलिये आपका भजन करते हैं, रजोगुणी तमोगुणी तो संसार को चाहते हैं वे आपको क्यों चाहेंगे ?"

भगवान् ने कहा—'उद्धव! ससार भी तो मेरा ही रूप है। मैं स्वयं भी गुणों के अनुसार बन जाता हूँ। देवरूप मेरा सात्विक है। यक्ष राक्षस मेरा राजस रूप है। भूत, पिशाच

डाँकिनी साँकिनी ये सब मेरे तामस रूप हैं। इन सब रूपों म फल मैं ही देता हूँ। श्मशान में शव के ऊपर बैठकर जो आराधना करते हैं, उनकी आराधना को शव क्या पूरा करेगा। शव तो, स्वयं ही मृतक है जड है। साधक की भावनानुसार भूत, प्रेत पिशाच, छाया पुरुष आदि के रूपा मे मैं ही उसकी इच्छा को पूर्ण करता हूँ। जो मुझे जिस रूप से भजता है, मैं उसे वही रूप दिखाकर उसके भावानुसार उनकी कामना पूरी करता हूँ।"

उद्धवजी ने पूछा—"कैसे हम जाने कि यह पूजा करने वाला सत्वगुणी है यह रजोगुणी अथवा तमोगुणी ?"

भगवान् ने कहा—"जो पुरुष अथवा स्त्री स्वधर्म का पालन करते हुए, बिना किसी सासारिक कामना के नित्य नैमित्तिक कर्मों द्वारा मेरा भजन करते रहते हैं। जन्माष्ट की एकादशी, प्रदोश, रामनवमी तथा अन्यान्य व्रत और उपवासों को किसी कामना से नहीं अपना कर्तव्य समझकर करते हैं। बिना कुछ इच्छा के जो भगवत् सेवा आदि कर्मों को करते हैं, निरन्तर मेरे भजन पूजन म लगे रहत हैं। वे मेर सात्विक भक्त हैं। वे भजन भजन के लिये करते हैं। मेरी प्रीति ही उनके भजन का लक्ष्य है। वे भजन करने वालों में उत्तम है।"

उद्धवजी ने कहा—"रजोगुणी भजन करने वाला की क्या पहिचान है ?'

भगवान् ने कहा—'जो पूजा तो बडी विधि से करते हैं। उसमें यथष्ट धन भी व्यय करत हैं, किन्तु करते हैं धन की तथा अन्य सासारिक विषयों की कामना से। मुझे अच्छी बहू मिले, पुत्र मिल, सासारिक सुख सम्बन्धी वस्तुएँ मिल तो समझना चाहिय ये रजोगुणी भजन करने वाला है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तमोगुणी भजन करने वाले की क्या पहिचान है ?"

को ऐसा प्रतीत होता है, कि सब ओर से ज्ञान एकत्रित होकर मेरे भीतर भर रहा है। उसे एक आन्तरिक सुख का अनुभव होने लगता है। एकान्त मे बैठता है, तो उसे प्रतीत होता है—मैं आनन्द के सागर मे गोते लगा रहा हूँ। उसकी धर्म कार्यों में स्वाभाविक प्रवृत्ति होने लगती है, वह ज्ञान विज्ञान से सम्पन्न अपने को अनुभव करने लगता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"रजोगुण से क्या होता है ?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! रजोगुण का कार्य है हृदय को राग रंजित कर देना। रजोगुण के बढ़ने पर कर्मों में शब्दादि विषयो मे स्वाभाविक आसक्ति होने लगती है। इच्छा न होने पर भी भेदबुद्धि उत्पन्न हो ही जाती है। छोटे बड़े वा धनी निर्धन का भेद हृदय मे घर कर लेता है। स्वभाव से कर्मों मे प्रवृत्ति होना यह रजोगुण का धर्म ही है। इसलिये रजोगुण की वृद्धि मे कर्मों के प्रति अत्यन्त आग्रह हो जाता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"इसका परिणाम क्या होता है ?"

भगवान् बोले—"परिणाम यह होता है ज्यों ज्यों रजोगुण बढ़ता जाता है, त्यों त्यों सतोगुण और तमोगुण दोनों ही घटते जाते हैं। समस्त कर्मों का आरम्भ दोष युक्त है। जैसे कहीं भी अग्नि को ले जाओ धूआँ उसके साथ ही जायगा। इसलिये रजोगुण की प्रवृत्ति में अहंकार तो बढ़ जाता है। एक आन्तरिक अशान्ति सी हृदय मे होने लगती है। भगवान् की सेवा रूप कर्म को छोड़कर संसार मे ऐसा कोई कर्म नहीं जिसका परिणाम दुखद न हो। अतः रजोगुणी सदा भीतर से दुखी और अशान्त रहता है। यद्यपि उसे सांसारिक सम्पत्ति की कमी नहीं होती। रजोगुणी प्रायः धनिक ही होते हैं, या यों कह लीजिये कि धन आने पर रजोगुण बढ़ ही जाता है, इसीलिये श्रेय की कामना वाले को धन का संग्रह करना निषेध है।"—

उद्धवजी ने पूछा—तमोगुण का क्या स्वरूप है ?"

भगवान् ने कहा—"तम का स्वरूप है अज्ञान, बुद्धि पर अविद्या का आवरण छा जाता है। उस समय बुरी बात ही अच्छी प्रतीत होने लगती है, अधर्म ही धर्म सा लगने लगता है। सत्व और रज दोनों को ही दबाकर तमोगुण बढ़ जाता है। तमोगुण का स्वभाव है जड़ता, अतः उसकी बुद्धि भी जड़ हो जाती है।"

उद्धवजी ने पूछा "उसका परिणाम क्या होता है ?"

भगवान् ने कहा—"उसका परिणाम शोक और मोह यही होता है। चित्त में खिन्नता बनी रहती है। हिंसा कर्मों में स्वाभाविक रुचि होती है। निद्रा, आलस्य या प्रमाद के वशीभूत होकर पड़े रहने की इच्छा बनी रहती है, आशा लगी रहती है। किसी पर विश्वास नहीं होता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! इन गुणों के बढ़ने पर चित्त की स्थिति कैसी हो जाती है ?"

भगवान् ने कहा—"भैया, अपनी स्थिति से ही गुणों की वृद्धि का पता चल जाता है। जब चित्त में स्वाभाविक प्रसन्नता हो, सभी इन्द्रियाँ स्वतः शान्त हो जायँ, किसी से भी किसी बात का भय न हो, मन में किसी प्रकार की किसी वस्तु में भी आसक्ति प्रतीत न हो, तो समझना चाहिये कि सम्पूर्ण गुणों में श्रेष्ठ—मुझे प्राप्त कराने वाला सत्वगुण इस समय बढ़ गया है। इस समय वृत्ति सत्व प्रधान है।"

उद्धवजी ने पूछा—"रजोगुणी वृत्ति का अनुमान कैसे करें ?"

भगवान् ने कहा—"कर्म में तो प्रवृत्ति हो, किन्तु क्रिया विकृत हो जाय। चित्त चंचल हो उठे, बुद्धि विकृत सी बन जावे, इन्द्रियों में अशान्ति सी अनुभव होने लगे। इन्द्रिय लोलुपता बढ़ जाय, भोग वासना प्रबल हो जायँ, विषय वासना के कारण

मन और मिथ्या आहार विहार के कारण शरीर अस्वस्थ हो जायँ तो इन कारणों से अनुमान लगा लेना चाहिये कि इस समय रजोगुण की वृद्धि हो रही है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तमोगुणी वृत्ति का अनुमान किन किन लक्षणों से लगावें भगवन्?"

भगवान् बोले—"जिस समय ज्ञानेन्द्रियाँ अपना वास्तविक काम करने में असमर्थ सी हो जायँ। बहिन बेटी है उसे दूसरी ही दृष्टि से देखने लगे। अधर्म की बात को धर्म मानने सुनने लगे। स्वादु पदार्थ को अस्वादु और अस्वादु को स्वादु मानने लगे। ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषय के ग्रहण करने में असमर्थ होकर अज्ञान के सहित चित्त में लीन होने लगें, झपकी सी आने लगे, देह टूटने लगे, मन में जड़ता आ जाय, शून्यता का अनुभव होने लगे, अज्ञान तथा ग्लानि की वृद्धि हो जाय, तो इन लक्षणों से समझना चाहिये कि अब तमोगुण ने अपना रंग दिखाया है वह सत्व और रज को दबा कर बढ गया है। उद्धव! मैं तुम्हें कहाँ तक बताऊ, तुम इतने से ही समझ लो कि संसार में कोई भी ऐसा नहीं है जो गुणों के अधीन न हो। सभी गुणों के द्वारा प्रेरित होकर समस्त व्यवहार कर रहे हैं। किसी गुण के बढ़ने पर किसी वर्ग की वृद्धि होती है और किसी गुण के बढ़ने पर किसी की।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! किसी गुण के बढ़ने पर किस वर्ग की वृद्धि होती है?"

भगवान् ने कहा—'सत्वगुण के बढ़ने पर देवताओं की वृद्धि होती है, इसलिये सत्व प्रधान पुरुषों में दैवी गुणों का अधिक संचार होता है और देवताओं का उन पर आवेश होता है। उनके शरीर को माध्यम बनाकर देवता आदेश देते हैं। रजोगुण के बढ़ने पर असुरों का बल बढ़ता है। वृत्ति आसुरी हो जाता

है। असुरो का भाव होने से आसुरभावापन्न प्राणी हो जाता है। तमोगुण के बढ़ने पर राक्षस, भूत, प्रेत पिशाचों का बल बढ़ता है। उद्धव! संसार में जितने त्रिक हैं ये सब, तीनों गुणों के प्रतीक हैं। ये जो त्रिदोष हैं इनका भी सम्बन्ध तीनों गुणों से ही है। कफ सत्व प्रधान है पित्त रजोगुण प्रधान है और वात तमोगुण प्रधान है। त्रिदेवों मे विष्णु सत्व प्रधान है, ब्रह्मा रजोगुण प्रधान हैं और रुद्र तमोगुण प्रधान है। त्रिलोक मे स्वर्ग सत्व प्रधान, पृथिवी रजोगुण प्रधान है तथा पाताल तम प्रधान है। अवस्थाओं में जाग्रत अवस्था सत्व प्रधान, स्वप्नावस्था रजोगुण प्रधान और सुषुप्ति तमोगुण प्रधान कही गयी है। इन तीनों से पर जो तुरीयावस्था है वह तो सर्व व्यापक आत्मा के सदृश होने से तीनों में ही व्याप्त है।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! तीनों गुणों के सम्बन्ध का ज्ञान तो अत्यन्त आवश्यक है। कृपा करके मुझे तीनों गुणों के कार्यों का और भी अधिक परिचय करावें।"

भगवान ने कहा—"उद्धव! मैं तुम्हें कहाँ तक परिचय कराऊँ। संसार में सर्वत्र ये ही गुण तो व्याप्त हैं। फिर भी मैं तुम्हें संक्षेप में कुछ सुनाता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने जैसे त्रिगुणों के कार्य बताये हैं उनका वर्णन मैं आगे करूंगा।

छप्पय

बढ़ सत्व शम आदि बढ़ैं गुन चित प्रसन्न अति।
ज्ञानादिक सम्पन्न होहिं सुख परम माहिँ मति॥
जब रज अति बढ़ि जाय काम सुख ई प्रिय लागै।
चित चचल मन भ्रमित द्रव्य यश इच्छा जागै॥
तम की होवै प्रबलता, हिंसा, निद्रा, शोक, भय।
बढ़ै ग्लानि मन शून्यवत, खिन्न चित्त अज्ञानमय॥

त्रिगुणात्मक जगत् और इससे तरने का उपाय

(१३१५)

द्रव्य देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः ।
श्रद्धावस्था कृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २५ अ० ३० श्लो०)

छप्पय

देव, असुर अरु यातुधान बल बाढ़े क्रम तें ।
सत्व, रजागुन और ज्ञाननाशक गुन तम तें ॥
स्वरग, भूमि अरु नरक देवत्रय तीन अवस्था ।
बान, चित्त करु सबनि माहिँ गुन तीन व्यवस्था ॥
भोग, धरम, व्रत, नियम फल, काल, करम, करता, करन ।
द्रव्य, देश निष्ठा, क्रिया, ज्ञान, अवस्था अरु असन ॥

जैसे जाल गुन (डोरियों) से बना रहता है, वैसे ही यह संसार गुणों से बना हुआ है। जैसे वस्त्र में जहाँ भी ताने बाने में आप देखें तहाँ सूत ही सूत मिलेगा। ऐसे ही संसार में जहाँ दृष्टि

* भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कहते हैं—"उद्धव! द्रव्य, देश, फल, काल, ज्ञान, कर्म, कारक, श्रद्धा, अवस्था, क्रिया और निष्ठा तथा और भी जो कुछ है सब का सब त्रिगुणात्मक ही है।"

दौड़ाइये गुणों का ही प्राधान्य प्रतीत होगा। तीनों गुणों का नाम संसार है। जहा तीनों गुण सम हुए तहाँ प्रलय हो गई। गुणों में जहाँ विषमता आ गयी तहाँ संसार चक्र चलने लगा। इसीलिये संसार में खोजने पर भी समता कहीं नहीं मिलेगी, कुछ न कुछ विषमता तो उसमें अवश्य होगी। एक ही स्थान में एक ही व्यक्ति और एक ही साधन द्वारा निर्मित लाखों करोड़ों वस्तुओं में भी ध्यान पूर्वक देखने से कुछ न कुछ न्यूनाधिक्य प्रतीत हो ही जायगा। यह सब गुणों की विषमता का ही प्रभाव है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। जब उद्धवजी ने तीनों गुणों के कार्यों के सम्बन्ध मे विशेष जिज्ञासा की, तब भगवान कहने लगे—"उद्धव! तीनों गुणों के अनुसार गति भी तीन प्रकार की होती हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! किस गुण के द्वारा कौन सी गति प्राप्त होती है?"

भगवान् ने कहा—"जैसे सत्वगुण प्रधान गुण है, उसके द्वारा वेद का निरन्तर अभ्यास करने वाले ब्राह्मण गण उत्तरोत्तर ऊपर के लोकों को जाते हैं। जितना ही सत्व अधिक होगा उतना ही ऊँचा लोक प्राप्त होगा भूः भुवः स्वः महः जन तप तथा सत्य ये सब लोक सत्व गुण प्रधान व्यक्ति को प्राप्त होते हैं। जो तमोगुण प्रधान हैं उन्हें नीचे के नरकादि लोक प्राप्त होते हैं। यदि वे पृथिवी पर जन्म लेते है तो उन्हें सूकर, कूकर, सर्प बिच्छू तथा वृक्ष लता आदि योनियाँ प्राप्त होती हैं। जो इन तीनों गुणों से पर हैं उन्हें न स्वर्ग मिलता है न नरक और न उनका पृथिवी पर ही जन्म होता है। वे मेरे उपासक मुझ को ही प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार कर्म भी त्रिविध हैं।

उद्धवजी ने पूछा—"कर्म किस प्रकार त्रिविध हैं? कौन-कौन से कर्म सात्विक है, कौन राजस और कौन तामस?"

भगवान् ने कहा—"जो कर्म कर्तव्य बुद्धि से किये जाते हैं, उनका समस्त फल मेरे अर्पण कर दिया जाता है, कर्ता को कर्तापने का अभिमान रहता ही नहीं। ऐसे सभी निष्काम कर्म सात्विक कहलाते हैं। जो सङ्कल्प पूर्व त्रिवर्ग फल प्राप्ति हेतु सकाम होने पर भी हिंसा दम्भ से युक्त किये जाते हैं जिनका उद्देश्य दूसरों को मारना या कष्ट पहुँचाना है ऐसे सभी कर्म तामस हैं। कर्मों के ही सदृश ज्ञान भी तीन प्रकार का है।"

उद्धव जी ने पूछा—"ज्ञान तीन प्रकार का कौन-कौन है भगवन्!"

भगवान् ने कहा—"आत्मा असङ्ग है उसका इस दृश्य प्रपञ्च से कोई सम्बन्ध नहीं। देह पृथक है इसमें रहने वाला देही पृथक है इस प्रकार का ज्ञान सात्विक है। आत्मा द्वारा ही सब कार्य होते हैं, आत्मा ही कर्ता है आत्मा ही भोक्ता है। अर्थात् इस शरीर को ही सब कुछ मान कर पञ्चभूतों से निर्मित पदार्थों की रात दिन खोज करते रहना, उनके संयोग से भाँति-भाँति के घातक अस्त्र शस्त्रों के निर्माण का ज्ञान करना। शरीर को सुख देने की तथा शत्रु को परास्त करने की विधियों का अधिकाधिक ज्ञान होना यह सब राजस ज्ञान है। घट पट आदि साधारण वस्तुओं का ज्ञान होना जैसे बालकों गूँगों तथा बुद्धिहीनों को ज्ञान होता है यह तामस ज्ञान है। और जिसे मुझ गुणातीत परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान हो गया तो यह ज्ञान तो तीनों गुणों से परे निर्गुण है। क्योंकि मैं स्वयं निर्गुण हूँ। इसी प्रकार निवास भी तीन प्रकार का होता है ?"

उद्धवजी ने पूछा—"निवास के तीन भेद किस प्रकार हैं भगवन्!"

भगवान् ने कहा—"देखो, एकान्त शान्त वन में निवास करना यह सात्विक वास है। जो लोग सात्विक प्रकृति के नहीं हैं वे वन

मे वास करके सुस्थिर रह ही नहीं सकते। वहाँ रहेंगे भी तो सब विषय भोगों को एकत्रित करेगे। वन वास का अर्थ यह है कि वन मे रह कर प्रकृति के ही साथ खेल करना कन्द मूल फलों पर निर्वाह करके मेरे चिन्तन मे ही समय को बिताना। यों तो चोर, डाकू, जुआरी भी वन मे छिपकर रहते हैं, किन्तु उनका वास सात्विक नहीं तामस है। क्योंकि वे वहाँ भजन न करके द्यूत व्यभिचार आदि करते हैं। वही वन का वास सात्विक है जो लता पेड़ों से प्यार करते हुए प्रभु चिंतन मे समय बिताया जाय। गांवों तथा नगरो के निवास को राजस निवास कहा गया है, विशेषकर बड़े-बड़े नगरों का निवास। वहाँ का जीवन अत्यन्त अशांत हो जाता है, जिधर देखो उधर ही राजसी ठाट दिखाई देते हैं। भाँति-भाँति के राजसी भोजन बिकते हुए दीखते हैं। नृत्य, गीत, नाटक, अभिनय, खेल, विहार तथा प्रत्येक काम राजसी ही होते हैं। सभी अशान्त और व्यग्र बने रहते हैं। वेगवान वाहन इधर से उधर निरन्तर दौडते रहते हैं। राज्याधिकारी आते जाते रहते हैं, उनका राजसी स्वागत सत्कार होता है, इस प्रकार प्रत्यक काम में रजोगुण होने से उसका प्रभाव सब पर पडता है। कैसा भी सत्व प्रधान पुरुष हो यदि वह बड़े-बड़े नगरो मे निवास करेगा तो कुछ न कुछ रजोगुण उसमे अवश्य आ जायगा। इसीलिये नगर और ग्रामों के निवास को राजसी निवास कहा है। जहाँ कलह व्यभिचार तथा द्यूत आदि कुकर्म होते हो उस स्थान के निवास को तमोगुणी बताया है। जूआ चाहें नगर के किसी एकान्त गुफा मे होता हो या वन की किसी एकान्त गुफा मे वे स्थान सभी तमोगुणी हो जाते हैं। इसी प्रकार सुरापान वेश्या गमन तथा अन्यान्य भी वीभत्स कृत्य जहाँ होते हो वह स्थान तमोगुणी हैं। श्रेय की कामना वाले स्त्री पुरुषो को ऐसे स्थानों मे पैर भी न रखना चाहिये, क्योंकि वहाँ का, कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता ही है। कोई

साधु महात्मा शान्त एकान्त स्थान में सघन वृक्ष के नीचे रहकर जप तप करता हो, तो वहा पहुँचते ही तत्काल एक प्रकार की शान्ति का अनुभव होने लगता है। इसके विपरीत जिस स्थान में चोरी लूट पाट, व्यभिचार, दुराचार सुरापान तथा द्यूत आदि कुकर्म आज नहीं आज से सैकडो वर्ष पूर्व होते हों, तो वहा पहुँच कर अच्छे भले आदमी के मन म बुरे सकल्प उठते हैं।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! कुकर्मों का इतने दिनों तक प्रभाव रहता है?

सूतजी ने कहा—'महाराज! कुकर्म सुकर्म दोनों का ही प्रभाव स्थानों मे बहुत दिना तक रहता है। यदि सुकर्मों का प्रभाव चिरकाल तक न रहता तो फिर तीर्थों को इतना महत्व दिया ही क्यों जाता। तीर्थों म क्या है। अमुक स्थान पर अमुक ऋषि ने तपस्या की वह तीर्थ बन गया। ब्रह्माजी ने अमुक स्थान पर यज्ञ किया। वह स्थल परम पावन हो गया। अमुक स्थान को अमुक देवता ने बनाया वह तीर्थ हो गया। गगाजी को सर्व तीर्थमयी क्या कहा है। वह भगवान् के परम पावन पादारविन्दों से निकली है। उसके किनारे-किनारे असख्या ऋषि महर्षियों ने घोर तपस्या की है। तपस्या तो न जाने उन्होंने कब की होगी, किन्तु उसका प्रभाव अभी तक विद्यमान है। गगा तट पर शात एकान्त स्थान पर चले जाओ, चित्त स्वाभाविक रूप से एक प्रकार की शान्ति का अनुभव करने लगेगा। यही दशा बुरे कर्मों की है। मैं पीछे भगवान् रामचन्द्र जी की कथा सुना ही चुका हू, एक स्थान के प्रभाव से ही लक्ष्मण जी भगवान् से विरुद्ध हो गये और न कहने योग्य बातें कहने लगे। ऐसे एक नहीं असख्यों उदाहरण हैं।

एक व्यक्ति ने एक घर को क्रय किया। जब वह उस घर में रहने लगा तब उसकी बार बार इच्छा होने लगी मैं बकरों का

वध करूँ। वह सात्विक प्रकृति का पुरुष था। कभी मांस मदिरा का स्पर्श भी नहीं करता था। जब वह घर में रहता तब उसके ऐसे विचार उठते, जब बाहर बन मे चला जाता, तब शान्त हो जावे। जब ऐसे विचार निरन्तर ही उठने लगे, तो उसने पंडितों को बुलाकर पूछा। पंडितो ने बताया—"महानुभाव, यह स्थान का प्रभाव है। अवश्य ही इस स्थान पर पहिले कभी हिंसा होती रही होगी।"

यह सुनकर उसने बहुत छानबीन की। पता चला अब से सौ वर्ष पूर्व यहां वधशाला थी, उसमें बकरों का ही वध होता था। अब तक उसके परमाणु वहां व्याप्त हैं।"

इन सब बातो से प्रतीत होता है, कि निवास स्थान का बड़ा प्रभाव होता है। इसलिये जहां तक हो तीर्थ स्थान मे पुण्यःक्षेत्र मे निवास करना चाहिये। त्यागी विरागी साधु को ऐसे घरों में नहीं रहना चाहिये जहां गृहस्थ धर्म में निरत स्त्री पुरुष साथ रहते हों नहीं तो उसका भी मन दूषित हो जायगा। हम जो भी बोलते हैं जो भी विचार करते हैं इनके सूक्ष्म परमाणु हमारे चारों ओर व्याप्त हो जाते हैं। यदि कोई निर्बल विचार का पुरुष वहां जाता है तो उन विचारों का तुरन्त उसपर प्रभाव पड़ता है, किन्तु उसका प्रभाव कुछ दिनों मे प्रतीत होता है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! अब हम समझ गये। अवश्य ही स्थान का बड़ा प्रभाव पड़ता है, तभी तो भगवान् ने हमे यहां नैमिषारण्य मे भेजा था। अवश्य ही यहां पहिले भी ऋषि मुनि तपस्या करते रहे होंगे।"

सूतजी ने कहा—"यह महाराज ! तपस्थली है। तपस्या के स्थान पर तपस्वी ही ठहरता है। कलियुग मे इसका विपर्यय भी हो जाता है किन्तु साधारणतया स्थान का बड़ा प्रभाव होता है। प्राचीन राजर्षि जब राज्य छोड़कर वन मे जाते थे, तो यह नहीं कि

जहाँ तहाँ कुटी बनाकर रहने लगे। वे प्राचीन मुनियों के तपस्या स्थान में जाते थे, विश्वामित्र जी राजर्षि भरत तथा अन्यान्य सभी तपस्या करने वालों ने ऐसा ही किया।"

शौनक जी ने कहा—"सत्य कहते हैं आप सूत जी! स्थान के प्रभाव को हम स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। अच्छा तो फिर उद्धवजी ने भगवान् से क्या पूछा।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! जब भगवान् ने त्रिविध निवासों का वर्णन कर दिया, तब उद्धवजी ने पूछा—"महाराज! कोई त्रिगुणातीत भी निवास है?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, मेरे मन्दिरों में रहना यह निवास निर्गुण निवास है। क्योंकि मैं स्वयं गुणातीत हूँ। जो मेरी अर्चा विग्रह स्थापित करके किसी भी संसारी बातों का चिन्तन न करते हुए—निरन्तर मेरी ही चिन्ता में निमग्न रहता है वह मानों निर्गुण स्थान में रहता है। यों पैसा पैदा करने को तो मूर्ति स्थापित करके बहुत से देवल निवास करते हैं उनका वह वास तमोगुणी है। मेरा मन्दिर मेरे ही लिये हो उसमें मेरी ही चिन्ता करे तो उसे अन्त में निश्चय ही मेरे लोक की प्राप्ति होगी। इसी प्रकार कर्ताओं के भी तीन भेद हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"कर्ताओं के तीन भेद कौन-कौन से हैं, प्रभो!"

भगवान् ने कहा—"देखो, जो कर्ता अनासक्त भाव से कर्म करता है, उन कर्मों का कुछ भी फल नहीं चाहता वह सात्विक कर्ता है। जो रागयुक्त होकर आसक्ति के सहित सभी कर्मों को किया करता है वह राजस कर्ता है और जो अन्धाधुन्ध कर्मों को करता ही रहता है, पूर्वापर का कुछ विचार ही नहीं करता। गधे की भाँति जो लाद दिया उसी को लेकर चल दिया, ऐसा कर्ता तामस कहलाता है। किन्तु जिसे कर्तापने का अभिमान ही नहीं।

कर्म करते हुए भी जिसकी बुद्धि निर्लिप्त बनी रहती है जो एक मात्र मेरे आश्रित होकर ही कर्मों को किया करता है, केवल मेरी प्रसन्नता प्राप्त करना ही जिसका एक मात्र कर्म रह गया है ऐसा कर्ता तो मेरा स्वरूप ही है, जैसे मैं निर्गुण हूँ, वैसे ही वह कर्ता भी गुणों से रहित है। इसी प्रकार श्रद्धा के भी तीन भेद हैं।"

उद्धव जी ने पूछा—"श्रद्धा के कौन-कौन से भेद हैं भगवन्!"

भगवान् ने कहा—"देखो, उद्धव! आत्मज्ञान सम्बन्धी श्रद्धा सात्विकी श्रद्धा कहाती है। उस श्रद्धा का आधार अन्य कोई वस्तु न होकर एक मात्र आत्मा ही है। अर्थात् जो आत्म ज्ञानी पुरुष हों उनमें श्रद्धा रखना। सब मे एक ही आत्मा व्याप्त है इस बुद्धि से प्राणी मात्र को श्रद्धा पूर्वक प्रणाम करना यह आत्मा क सम्बन्ध से उत्पन्न हुई है इसलिये सात्विकी श्रद्धा है। जो श्रद्धा कर्म द्वारा उत्पन्न होती है वह राजसी है। जैसे अमुक बड़े कर्मयोगी हैं, उन्होंने इतनी पाठशालाएँ इतनी गौशालाएँ स्थापित की हैं, वे बड़ा सुन्दर प्रवचन करते हैं, वे बड़े अच्छे लेखक, चित्रकार, कथावाचक, वक्ता, कलाकार तथा अन्य कर्मों में निष्णात हैं अतः श्रद्धेय हैं। यह श्रद्धा स्थाई बनी ही रहे यह आवश्यक नहीं जिस कर्म के द्वारा श्रद्धा थी वह कर्म न दीखा श्रद्धा हट गई। स्वयं भी कर्मों पर ही श्रद्धा रखकर कर्म करना। कर्म करने ही चाहिये ऐसी अपनी दृढ़ श्रद्धा व्यक्त करना। इस प्रकार जिस श्रद्धा का सम्बन्ध कर्म से है वह राजसी श्रद्धा है। अधर्म मे श्रद्धा रखना यह तामसी श्रद्धा है। बहुत से परम्परा के गुरु आचार्य अधर्मी हैं। बहुत से साधु वेपधारी दुराचारी व्यभिचारी हैं, किन्तु उनके प्रति भी श्रद्धा बनाये रखना। उनके अधर्म कार्यों का युक्ति पूर्वक समर्थन करना उनकी श्रद्धा के वशीभूत होकर सहायता

करना स्वयं भी अधर्म कार्यों मे श्रद्धा रखना। किसी ने कहा अमुक देवता के यहाँ मुर्गा काटने से तुम्हारे पुत्र होगा। बिना विचारे श्रद्धा पूर्वक उसे कर आना। इस प्रकार की श्रद्धा तामसी कही गई है। जिनकी एकमात्र मेरी सेवा पूजा अर्चा तथा पर्वो त्सवादिकों में ही श्रद्धा है ऐसी श्रद्धा निर्गुण है, क्योंकि उस श्रद्धा का एकमात्र सम्बन्ध मुझसे ही है। मुझसे जिन कार्यों का भी सबा सम्बन्ध हो गया, वे सब के सब निर्गुण बन जाते हैं। इसी प्रकार आहार भी तीन प्रकार का होता है ?"

उद्धव जी ने पूछा—"आहार किस प्रकार भगवन्! तीन प्रकार का होता है ?"

भगवान् ने कहा—'जैसे स्वच्छता से शुद्ध भावना से बनाया हो। रसीला चिकना पोष्टिक हृदय को सुख पहुँचाने वाला मधुर पथ्य तथा बिना अधिक परिश्रम के अनायास प्राप्त हुआ हो वह आहार सात्विक है। जो अत्यन्त कडवा, अत्यन्त चरपरा, अत्यत गरमागरम, अधिक नमक वाला जिसके खाने से रसना इन्द्रिय चचल होती हो। जबतक चटपटा न हो तब तक रसना तृप्त ही न होती हो इस प्रकार का उत्तेजक आहार राजस कहा गया है। जो बासी हो, नीरस और अत्यन्त ठंडा हो गया हो, जिसमें से दुर्गंध आती हो, जूठा हो अपवित्र हो परिणाम में दुःख देने वाला हो ऐसे आहार को तामस आहार कहते हैं। मेरा नैवेद्य तो निर्गुण आहार है ही क्योंकि उसे मुझ निर्गुण ने भक्षण किया है इसी प्रकार सुख भी तीन प्रकार का है ?"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन्! सुख के तीनों भेदों को भी मुझे बताइये।"

भगवान् ने कहा—"आत्मा से प्राप्त होने वाला सुख सात्विक सुख है। उसमें किसी बाह्य वस्तु की उपेक्षा नहीं। एकान्त में बैठ कर आत्म चिंतन कर रहे हैं, अश्रु पुलक हो रहे हैं, कंठ गद्-गद

हो गया है यह सात्विक सुख है। किसी सुन्दर नृत्य को देखकर सुखकर नाटक को देखकर सुन्दर स्त्री पुरुष बालक या अन्य किसी भी बाह्य वस्तु को देखकर जो सुख होता है वह राजस सुख है। किसी व्यभिचारी पुरुष या व्यभिचारिणी स्त्री के फन्दे मे फँसकर पुत्र या अन्य किसी सगे सम्बन्धी के मोह मे फँसकर, किसी के सम्मुख गिड़गिडाकर दीनता के साथ याचना की उसने कुछ द्रव्य दे दिया उसे प्राप्त करके या और भी किसी प्रकार की दीनता दिखाकर जो कार्य सिद्ध कर लिया इन सब से प्राप्त होने वाला सुख तामस सुख है। इसी प्रकार द्रव्य भी तीन प्रकार के होते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"द्रव्य कैसे तीन प्रकार के होते है ?"

भगवान् ने कहा—"जो सत्व गुण को उत्पन्न करने वाले हैं, वे सत्वगुणी, रजोगुण को उत्पन्न करने वाले रजोगुणी और तमोगुण को उत्पन्न करने वाले तमोगुणी हैं। जो अनायास विना माँगे सरलता से शुद्धता से धर्म पूवक मिलें, वे सत्वगुणी हैं, जो जो मांगने से अत्यन्त प्रयास से अनेक युक्तियो के द्वारा दूसरों की हानि करके प्राप्त हो वे रजोगुणी। जो छल, कपट, दबाव तथा नाना प्रकार के अनुचित उपायोंके द्वारा दूसरो से लड़ झगड़कर प्राप्त हो वे तामसी हैं। उद्धव ! अब तुम्हें कहाँ तक गिनाऊ जितने भी देश, काल, फल, स्वभाव, कर्ता, करण, क्रिया, निष्ठा तथा व्यवहार है, सब त्रिविध हैं सभी के सात्विक, राजस और तामस भेद हैं। इन सब की गणना करना अत्यन्त ही दुष्कर है जो प्रकृति से अधिष्ठित देखे जाने वाले, सुने जाने वाले, अनुमान किये जाने वाले तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म बुद्धि द्वारा सोचे जाने वाले पदार्थ त्रिगुणमय हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! यह त्रिगुण मय संसार बन्धन जीव को प्राप्त ही क्यों होता है ?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! संसारी सभी कर्म त्रिगुणमय हैं, जो कर्म करेगा उसे संसार की प्राप्ति अवश्य होगी, फिर चाहे ब्रह्म लोक प्राप्त हो अथवा स्वर्ग, नरक या मर्त्य लोक। कर्म के वशीभूत होकर ही जीव संसार में आकर नाना योनियों में भटकते रहते हैं।

उद्धवजी ने कहा—"तब तो भगवन् ! जीव का यह संसार चक्र कभी छूट ही नहीं सकता, क्योंकि कोई भी प्राणी एक क्षण के लिये भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता।"

भगवान् ने कहा—"नहीं, छूट क्यों नहीं सकता। जब ये गुण जीत लिये जाते हैं, तो जीव संसार बन्धन से तुरन्त मुक्त हो जाता है।

उद्धव जी ने पूछा—"महाराज ! ये गुण जीते कैसे जा सकते हैं।"

भगवान् ने कहा—"भक्तियोग द्वारा ये गुण जीते जा सकते हैं। जब जीव सभी से आशा छोड़कर एक मात्र मुझ सच्चिदानन्द घन में ही अपनी समस्त वृत्तियों को लगा देता है। मेरे लिये ही वह सब कार्य करता है, तो वह मुझ में अनन्य निष्ठा रखने वाला भक्त मेरे ही स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। अतः तीव्र पुरुषार्थ द्वारा इन गुणों को जीत ले।"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन् ! तीव्र पुरुषार्थ किस का नाम है ?"

भगवान् बोले—"इन गुण संग रूप संसारी सुखों को तिलाञ्जलि देकर अहर्निशि मेरा ही चिन्तन करे, मेरा ही भजन करे, मेरे ही नाम और गुणों का कीर्तन करे। कहाँ तक बतावें जो भी करे मेरे ही उद्देश्य से करे क्योंकि ज्ञान विज्ञान प्राप्ति के साधन भूत इस मानव शरीर का यही सब से श्रेष्ठ परम पुरुषार्थ है। इसी के द्वारा यह भगवान् का साक्षात् कार कर सकता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तो भगवन्! सहसा गुणातीत कोई हो कैसे सकता है। हम गुणों से ही उत्पन्न हुये गुणों में ही बरत रहे हैं। एक साथ ही कुछ न सोचना गुणों से ऊपर उठ जाना यह तो कल्पनातीत बात है। इसका तो अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता।"

भगवान् ने कहा—"एक साथ गुणातीत होने के लिये भाई! कौन कह रहा है। विचारशील बुद्धिमान् विवेकी पुरुष को चाहिये कि प्रथम रजोगुण के द्वारा तमोगुण को जीत ले, फिर सत्वगुण के द्वारा रज और तम दोनों को जीत ले। सत्व की ज्यों ज्यों वृद्धि होती जाय, त्यों त्यों शनैः शनैः इन्द्रियों को वश में करता जाय, उनका संयमन करे फिर प्रमाद वश जो विषयों की ओर मन जाता है और उन विषयों में जो अत्यन्त आसक्ति हो गयी है उधर से मन को हटाता जाय। ज्यों ज्यों चित्त विषयों से हटता जायगा, त्यों त्यों वह आसक्ति हीन होता जायगा। मन आधार के बिना तो टिक नहीं सकता। इसके लिये कुछ न कुछ आधार अवश्य चाहिये, अतः मुझे ही आधार बना लो। मुझमें ही मन को लगा दे, निरन्तर मेरा ही भजन ध्यान करता रहे। इस प्रकार जब पूर्ण सत्व गुण आ जाय तब उसमें भी आसक्त न हो शान्त चित्त और निरपेक्ष भाव से शास्त्र में बतायी नाना युक्तियों के द्वारा सत्वगुण पर भी विजय प्राप्त कर ले।

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! सत्वगुण को जीतने की युक्ति क्या है।"

भगवान् ने कहा—"जो जिसका निरन्तर ध्यान करता है, वह वैसा ही हो जाता है मैं गुणों से रहित हूँ, निरन्तर मेरा ध्यान करते रहने से जीव अपने जीवत्व को त्यागकर मुझको ही प्राप्त हो जाता है। अभी तक तो जीव अपने को अपूर्ण अनुभव करता है। क्योंकि वह लिङ्ग शरीर रूपी उपाधि से युक्त है। जब वह

अन्तःकरण से इस उपाधि का परित्याग कर देगा तब अपनी अपूर्णता को त्याग कर मुझ परिपूर्ण ब्रह्म को प्राप्त हो जायगा। तब वह न वाह्य विषयों का ही चिन्तन करेगा न आन्तरिक विषयों का। विषयों से रहित गुणातीत, शुद्ध परिपूर्ण बन जायगा। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप मे तुम्हें गुणों का कार्य बताया और गुणातीत होने की युक्ति भी बताई, अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ?"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन्! नित्य भोगते रहने पर भी इन संसारी विषयों से वैराग्य नहीं होता। एक बार भोग लिया फिर उनके भोग की इच्छा बनी ही रहती है। यही नहीं जितना ही भोगों को भोगते हैं उतना ही इच्छा भी बढ़ती जाती है। इसका क्या उपाय किया जाय।"

भगवान् ने कहा—"इसका एक ही उपाय है दुस्संग से चित्त को हटावे सत्संग में चित्त को लगावे। इस प्रकार सत्संग के प्रभाव से चित्त हटता जायगा। विषयों के प्रति जहाँ वैराग्य हुआ तहाँ मन मुझमे स्वतः ही लग जायगा।"

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! विषयों से वैराग्य कैसे हो, कृपा करके इसकी युक्ति मुझे बतावें। इस विषय को स्पष्ट करके विस्तार से समझावें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है अब मैं तुमको संसार से वैराग्य होने का ही उपाय बताता हूँ। इस सम्बन्ध में महाराज ऐल ने एक गाथा गायी है उसे ही तुम सुनो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब आप भगवान् के बताये हुए वैराग्य के उपाय ऐल गीत को सुनें।"

छप्पय

सब ई हैं त्रिगुनात्म प्रकृति अरु पुरुष अधिष्ठित।
देखे समुझे सुने बुद्धि द्वारा जो निश्चित॥
होहि करम बश बन्ध भक्ति तैं गुन भगि जावें।
मो में राखें भाव भक्त ते माकूँ पावें॥
रज, तमकूँ जय सत्व तें, करै सत्व मम भजन ते।
होवै त्रिगुनातीत तब, लिपटै सो मम चरन ते॥

— ❀ —

ऐल गीत

(१३१६)

ऐलः सम्राडिमां गाथामगायत बृहच्छ्रवाः।
उर्वशी विरहान्मुह्यन्निर्विण्णः शोक संयमे ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० २६ अ० ४ श्लो०)

छप्पय

मानव तनु लहि रहै चरन मेरे लिपटानों।
नर जीवन फल लह्यो यथारथ तानें जानों॥
होवै जबई ज्ञान जगत माया नसि जावै।
अज्ञानिनिकों सग करै विषयनि फँसि जावै॥
फँसे उरवशी मोह महँ, ऐल नृपति सम्राट जब।
भया ज्ञान पछिताइ पुनि, सुखकर गाये गीत तब॥

जीव का वास्तव में कोई बन्धन नहीं है, विषयों के संग से अज्ञान के वशीभूत होकर उनके गुणों को अपने में माने बैठा है दुखी निरे अपने को सुखी दुखी अनुभव करता है। जहाँ वह

* भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं—'उद्धव! सार्वभौम कीर्ति शाली इला के पुत्र महाराज ऐल ने उर्वशी के विरह में व्याकुल बन कर उस शोक का अन्त होने पर परमात्मा के सहित यह गाथा गायी थी।'

ज्ञान हो जाय, कि इन विषयों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, तहाँ सुख है न दुख सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। माया के स्वरूप को बिना जाने उसके फंदे में फंस गया है। उसके स्वरूप का ज्ञान हो जाय, तो लाजवती माया फिर इसके पास भी नहीं फटकने की। इस सम्बन्ध मे एक कथा है।

एक बडा शुद्ध सदाचारी ब्राह्मण युवक था। उसके समीप एक स्त्री रहती थी। ऊपर से देखने मे वह बडी सुन्दरी सुशीला लज्जावती, गुणवती और सदाचारिणी प्रतीत होती थी, किन्तु वास्तव में वह थी व्यभिचारिणी। जिसे भी सरल सीधा सादा देखती उसे ही वह अपने फंदे में फँसाती। यदि वह सवमाधारण वेश्याओं की भाँति होती, तो भले आदमी उसके समीप ही न जाते। किन्तु उसने तो अपना वास्तविक रूप छिपा रखा था। घूँघट मार कर लजाती हुई ऐसी निकलती थी, कि सब लोग उसे सदाचारिणी ही समझते थे। अच्छे अच्छे लोग उसके रूप जाल में फंस जाते उसकी चिकनी चुपडी ममता भरी बातों में फँस जाते। वह जिससे सम्बन्ध जोडती उससे ही लाखों शपथ खाकर कहती, कि एक मात्र में तुमको ही प्यार करती हूँ, तुम्हारे अतिरिक्त मेरा कोई प्रेमी नहीं है। ससार में मेरे लिये तुम ही तुम हो। उस सदाचारी युवक पर भी उसने अपना फन्दा डाला। उसकी मीठी मीठी मोहक बातों में वह फंस गया। उसके मोहक रूप ने उसे मोह लिया। वह उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करने लगा। वह भी भाँति भाँति की शपथें खाकर यह प्रकट करने लगी कि मेरे सर्वस्व तो आप ही हो।

एक दिन वह ब्राह्मण कुमार यों ही अकस्मात् उसके घर चला गया उसने देखा कोई दो आदमी बातें कर रहे हैं, चुप चाप खड़ा होकर सुनता रहा। उसने देखा एक युवक है और

मायावती सुन्दरी उससे भी अक्षरशः वे ही बातें कह रही है, जो उससे कहती थी। अब तो उसे ज्ञान हो गया। अरे मैं तो भ्रम में था, इस मायावती ने मुझे अन्धकार में रखा मुझे प्रेम का असत्य नाटक दिखाकर ठग लिया। सहसा उस मायावती ने किवाड़ खोलीं बाहर उसे खड़ा देखा। वह समझ गयी, इसने मेरी सब बातें सुन ली हैं। किसी भी स्वैरिणी सही, फिर भी स्त्री सुलभ लज्जा तो उसे थी ही। वह अत्यन्त लज्जित हुई। वह जान गयी, कि इस युवक ने मेरा यथार्थ रूप जान लिया। युवक का मोह नष्ट हो गया था उसे अपने सदाचार की पूर्व स्मृति जाग गयी थी, वह स्वस्थ हो गया। पहिले जब कभी वह उसे आते हुए देखता था, तो उसका हृदय बाँसों उछलता था, किन्तु अब जब उसने उसके यथार्थ मर्म को जान लिया तो उसके लिये वह नगण्य वस्तु हो गयी। उसे देख कर उसके मन में कोई विशेषता न रह गयी। वह स्त्री भी समझ गयी, कि इसे मेरे यथार्थ रूप का ज्ञान हो गया, अतः! लज्जावश वह भी फिर कभी उसके समीप नहीं आई। यह तो हुआ दृष्टान्त अब इसका दार्ष्टान्त यह है कि यह ठगिनी माया ही स्वैरिणी स्त्री है, जीव ही सदाचारी युवक है। जब तक यह इस माया के यथार्थ रूप को नहीं जानता, तब तक चौरासी के चक्कर में घूमता रहता है। जब इसे माया के यथार्थ रूप का ज्ञान हो जाय, तो माया कहीं चली नहीं जाती, इसके सम्मुख आने में लजा जाती है, इसका पीछा छोड़ देती है। फिर जीव इस शरीर में रहे भी तो भी संसार की कोई घटना इसे क्षुब्ध नहीं कर सकती। जीवन्मुक्त होकर ब्रह्म सुख का अनुभव करता रहता है। माया से मन हटते ही मायेश के चरणों में वही प्रेम हो जायगा जो सच्चिदानन्द स्वरूप है।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धव जी ने वैराग्य के

सम्बन्ध मे जिज्ञासा की, तब भगवान् कहने लगे—"उद्धव! किसी दरिद्र को बिना परिश्रम के विपुल धन मिल जाय, तो वह धन का मूल्य नहीं जान सकता। जिसे सहज में पुत्र प्राप्त हो जाय, वह पुत्र की महत्ता का अनुभव नहीं कर सकता। जिसके पुत्र न होता हो और चिर काल तक अनेक उपाय करते करते वृद्धावस्था में एक पुत्र हो जाय वह उसकी यथार्थ महत्ता का अनुभव कर सकता है। इसी प्रकार जीव को यह मेरे स्वरूप ज्ञान का साधन रूप सुदुर्लभ मनुष्य शरीर सहज में ही प्राप्त हो गया है। इसलिये यह इसकी महत्ता को समझ नहीं सकता। तभी तो इस अमूल्य मानव देह का उपयोग इन तुच्छ नाशवान् भोगों के भोगने में ही करता है। जिसे इस मानव शरीर की महत्ता का बोध हो गया, वह फिर इन क्षणिक सुखों में अपने समय को न बितायगा, वह सदा सर्वदा भगवत सेवा, पूजा, उपासना तथा अन्य कथा कीतनादि भगवत् धर्मों में ही लगा रहेगा। इस प्रकार निरन्तर मेरी ही परिचर्या में लगा रहने वाला पुरुष फिर इस ससार में लौट कर नहीं आता, वह अपने अन्तः करण मे स्थित मुझ आनन्द स्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा को ही प्राप्त हो जाता है।

उद्धव जी ने पूछा—"तो क्या भगवन्! आपका ज्ञान होते ही यह नाशवान् भौतिक शरीर छूट जाता है?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, छूटने की क्या आवश्यकता है। इस शरीर में रह कर भी वह ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव कर सकता है।"

उद्धव जी ने पूछा—"फिर ये माया के तीनों गुण उसे बाधा नहीं पहुँचाते?"

भगवान् ने कहा—"जीव को जीवावस्था तभी तक है, जब तक वह गुणमयी माया के चक्कर में है। जहाँ ज्ञान निष्ठा के द्वारा उसे मुझ निगुणातीत का यथार्थ ज्ञान हुआ तहाँ ये सब माया के

-गुण उसे अवास्तविक प्रतीत होने लगेंगे। फिर वह इनकी ओर आकर्षित होगा ही नहीं। प्राचीन काल मे रानियों की रक्षा के लिये जो रखे जाते थे वे देखने में तो पुरुष होते थे, किन्तु उनका पुरुषत्व नष्ट कर दिया जाता था, फिर उनके रहने में कोई आपत्ति नहीं थो। बीज को यदि भून दो तो वह बना तो वैसा का वैसा ही रहेगा, किन्तु उसमे अकुर उत्पन्न होने का सदेह न रहेगा। इसी प्रकार गुणों की अवास्तविकता का ज्ञान होने पर मायामात्र गुणो मे वर्तमान रहते हुए भी पुरुष उनमे फंसता नहीं उनसे निर्लिप्त ही बना रहता है।"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन्! कौन ऐसा सरल सुगम साधन है, जिस के करने से पुरुष इस माया के चक्कर में न फँस सके।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! मैं इस प्रश्न का उत्तर अनेकों बार दे चुका हूँ, फिर भी देता हूँ यदि तुम निरन्तर विषयियों का सग करोगे तो विषयों मे अवश्य फँस जाओगे, निश्चय रूप से फस जाओगे। अतः जो विषयो के दास हैं, पेट भर लेना काम वासना को तृप्त कर लेना इसी को जो परम पुरुषार्थ मानवे हैं, उन शिश्नोदर परायण असत् पुरुषों का श्रेय की इच्छा रखने वाले पुरुषो को—कभी भूल कर भी संग न करना चाहिये। त्यागी सदाचारी इन्द्रियजित् सत्पुरुषों का ही संग करना चाहिये। उद्धव तुम विचार करो। तुम्हें कोई मार्ग मालूम नहीं है, नेत्रों से दिखाई भी नहीं देता यदि तुम उस मार्ग के ज्ञाता किसी सुन्दर दृष्टि वाले पुरुष के पीछे पाछे चलोगे, तो अवश्य ही गन्तव्य स्थान को पहुँच जाओगे। और यदि किसी अन्धे के पीछे लग गये, तो वह अंधा भी किसी कूए मे गिरेगा और उसके पीछे पीछे चलने वाले दृष्टि हीन तुम भी उसी का अनुकरण करोगे। जो स्वय ही विषयों का दास है, उसका संग करोगे—उसके पीछे पीछे चलोगे तो तुम भी विषयी हो जाओगे। कलियुगी गुरु उद्धव! ऐसे ही होते हैं।

वे पर धन और पर स्त्री के पीछे घूमते रहते हैं। कुछ अपने ही जैसे लोगों को साथ ले लेते हैं, भोले भाले लोगों को फँसाते हैं उन्हें चेले शिष्य बनाते हैं वे स्वय तो नरकों में पडते ही हैं। साथ ही उन चेलों को भी ले जाते हैं। इसलिये जिन्हें यथार्थ परमार्थ लाभ करना हो उन्हें ऐसे विषय लोलुप, लोभी और कामी पुरुषों के पीछे कभी भी न चले। जब तक संसार से यथार्थ वैराग्य नहीं होता तब तक चाहे मूँड मुडा लो या जटा रखा लो, कपडा रँगा ले या माला सटका लो मन विषयों की ही ओर दौड़ेगा। भगवत् कृपा से जब विषयों से वैराग्य हो जायगा तब ये विषय विषवत् प्रतीत होने लगेंगे। देखिये, महाराज पुरूरवा को जब विषयो से वैराग्य हो गया, तब वही उर्वशी जिसके बिना वे पल भर भी नहीं रह सकते थे, तुच्छ और घृणित कामिनी प्रतीत होने लगी।"

उद्धव जी ने पूछा—"महाराज! सम्राट् पुरूरवा को उर्वशी से प्रेम कैसे हो गया और फिर उन्हें उसके कारण वैराग्य क्यों हुआ?"

भगवान् ने कहा—"महाराज पुरूरवा इला के पुत्र थे वे बड़े सुन्दर थे, एक दिन स्वर्ग में उर्वशी उनके रूप से मोहित हो गयी, वे भी उसके रूप से मोहित हो गये। उर्वशी शापवश राजा की पत्नी हुई राजा उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। प्रण पूरा न होने पर उर्वशी राजा को छोड़ कर चली गयी। राजा की उस समय बुरी दशा थी। यद्यपि राजा बड़े यशस्वी थे। सप्तद्वीपवती वसुन्धरा के एक मात्र सम्राट् थे। बड़े बड़े महाराजा अपने सुवर्ण मंडित मणिमय मुकुटों से उनके चरणों प्रणाम करते थे। फिर भी वे उस स्वर्गीय वेश्या के विरह में इतने विमोहित बन गये, कि उसके पीछे विह्वल होकर-उन्मत्तों के समान-नंगे ही दौड़ने लगे और दीन होकर बारम्बार कहने लगे—"अरी कठोर हृदय वाली

कामिनी ! तनिक ठहर कर मेरी दो बातें तो सुनती जा। तेरे बिना कैसे जीवित रहूँगा।" किन्तु उस स्वर्गीय ललना ने राजा की बातें अनसुनी कर दीं वह चली ही गयी। राजा मूर्छित हो गये।

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! इस क्रूर काम की करतूत तो देखो, जिस स्वर्गीय ललना उर्वशी के साथ महाराजा वर्षों रहे, जिसमें आसक्तचित्त होने से राजा को कब दिन हुआ कब रात्रि हुई यह भी ज्ञान नहीं रहा निरन्तर जिसके अधरामृत का पान करते रहने पर भी राजा की तृप्ति नहीं हुई, उसी से क्षण भर मिलने के लिये राजा व्यग्र बन गये। इस काम की कैसी विडम्बना है। उस अप्सरा के विरह में बहुत दिनों तक राजा विह्वल बन रहे। अन्त में राजा के शोक का अन्त हुआ। उन्हें विषयों से वैराग्य हो गया। अब तो उन्हें उर्वशी के वे अङ्ग जिन्हें देखते देखते वे तृप्त ही नहीं होते थे परमनिन्दनीय और घृणित प्रतीत होने लगे। उसी वैराग्य के समय राजा ने अपने को धिक्कारते हुए ये गीत गाये।

ऐल गीत

(१)

हाय ! यह जीवन वृथा गँवायो।
मोहमयो मदिरा पी पी कें कामिनि हाथ बिकायो ॥१॥ हाय !
मृगनयनी बधिकिनि बनि सम्मुख, मोहक जाल बिछायो।
डारिरूप को चुगो चहूँ दिशि, चचल चित्त फँसायो ॥२॥ हाय
हों नरपति भूपति-पद वन्दित, खग मृग सरिस नचायो।
त्यागि मोइ ठगिनी चलि दीनि, नेक न नेह निभायो ॥३॥ हाय !
ह्वेकें विकल त्यागि पट भूषण, पीछे नगो धायो।
तेज, ओज, बल पौरुष त्यागो, हों नहिं नीच लजायो ॥४॥ हाय
भया दुखी कातर अति विह्वल, अतिशय नेह जतायो।
खर ही भारत लात दुलत्तो, खरवत् पीछे धायो ॥५॥ हाय

वृथा ताको जप तप अरु दान।
जाके हिय महँ धँसी नारि की, मद मृदुल मुसकान ॥१॥ वृथा
पढ़ें शास्त्र, फल फूल खाय व्रत करयो वेद को गान।,
व्यर्थ सकल साधन यदि चाहे, मन अधरामृत पान ॥२॥ वृथा
तब तक शील, सँकोच, सरलता, जाति वरन, कुल कान।
जब तक हिय महँ चुभे न चाखे नारि नयन वर बान ॥३॥ वृ०
बार बार धिक्कार जार कूँ, कुलटा रूप लुभान।
मानत सुख जा हाड़ चाम महँ, नहिँ सुमिरत भगवान ॥४॥ वृ

(३)

हाय ! मन मूढ न मेरो मान्यो।
जो अतिअशुचि मूत्रमल आलय, ताकूँ सुखकर जान्यो ॥१॥ हाय
खग मृग सरिस समुझि मोइ वधिकिनी, निजकटाच्छसर तान्यो।
अपने आपु फँस्यो फन्दा में, भयो न दुखी रिस्यान्यो ॥२॥ हाय
सुधा समुझि विष बेलि अधम पशु, पाइ ताहि हरषानो।
अति उनमत्त भयो मद पीके, नहिं पहिले पहिचान्यो ॥३॥ हाय
चन्द्र वदन कजरारे नयना, अंग अँग निरखि लुभानो।
देखि राग भरमायो कामी निप अमिरत नहिँ सान्यो ॥४॥ हाय

(४)

त्रिया की देह परम प्रिय जानी।
जो मल मूत्र रुधिर मज्जा अरु कफ खकार की खानी ॥१॥ त्रिय
रुधिर राधि मल कफ के कीरा, सुधा सरिस इनि जानी।
कुलबुलात हरषात इनहिँ महँ, ह। तैसो ही प्रानी ॥२॥ त्रिया०
जोहत रहत नयन मुख पल पल, समुझि आपुनी रानी।
तृन सम तारि नेह की डोरी, छिन महँ भई बिरानी ॥३॥ त्रि०
भ्रमवश सरपिनि गल लपटानी, मनहर माला मानी।
कब आयी कब गयी सयानी, अब रहि गई कहानी ॥४॥
माया नाना नाच नचावे, ठगिनी परम पुरानी।

हे मायेश बचाओ गिरिधर, यदुवर सारँगपानी ॥५॥

(५)

जगत के विषय बड़े बलवान।
इनते रहो सचेत सदाई, जो चाहो कल्यान ॥१॥ जगत
विषयी विषय बात बतरावें, करत विषय गुनगान।
तातैं तजो संग विषयिनि को, विघन रूप इनिजान ॥२॥ जग
मन अरु करननि मति पति आओ, ये रिपु अति बलवान।
गहो चरन प्रभु भली करेंगे, दीन बन्धु भगवान ॥३॥

भगवान कह रहे हैं—"उद्धव ! इसी प्रकार राजा को उर्वशी के वियोग से बड' आत्म ग्लानि हुई वे बार बार अपने को धिक्कारने लगे। मेरी उन पर कृपा हो गयी ! उन्हें विषय भोगों के यथार्थ रूप का ज्ञान हो गया वे बारम्बार लम्बी लम्बी साँस छोड़ते हुए कहने लगे—"हाय ! मैं अपने को बडा भारी पंडित समझता था, किन्तु वास्तव में मैं निकला महा मूर्ख जो राजराजेश्वर होकर भी—पृथिवी का शास्ता रक्षक और पालक कहाने पर भी कामिनी का क्रीडा मृग बन गया। उसके संकेतों पर नाचने लगा। मैंने अपनी बुद्धि तथा विचार शक्ति, सभी खो दी। मैं घोडा, गधा तथा भाड़ों के समान सब कुछ भूल कर स्त्री के पीछे लग गया। मैं चाहता क्या हूँ, यही न कि वह मुझे एक बार और मिल जाय। एक बार मिल ही गयी तो इससे तृप्ति तो होगी नहीं। काम वासना तो और बढ़ेगी। जलती हुई अग्नि में घृत की जितनी ही आहुति छोड़ोगे उतनी ही उसकी वृद्धि होगी। यदि एक बार मिलने से ही उसकी तृप्ति होती तो वह तो मेरे समीप वर्षों रही है। क्यों मेरी क्षण भर को भी तृप्ति हुई है ? हाय ! मेरा मन उस कुलटा कामिनी ने चुरा लिया अब मैं कहाँ जाऊँ, किस की शरण में जाने से शान्ती मिलेगी, ऐसा कोन सम्बन्धी सुहृद तथा हितैषी है ? संसार के सभी लोग तो स्वार्थी हैं, उनकी मैत्री तो

स्वार्थ साधने के निमित्त होती है। एक मात्र मुनि जन सेवित भक्तों द्वारा वन्दित सब के सुहृद सर्वेश्वर ही मुझे इस दुःख से बचा सकते हैं, उन्हीं की शरण में जाने से सच्ची शान्ति मिल

सकती है। हाय! उस कामिनी ने तो मुझे पहिले ही सचेत कर दिया था, उसने स्पष्ट कह दिया था "हम स्वैरिणी हैं, किसी एक से बंधी नहीं रह सकती हैं, हम नित्य ही नूतन नूतन पति की चाह करती रहती हैं। हम जाति, वरण, विद्या, कुल, ऐश्वर्य नहीं देखतीं, स्थान अस्थान, शुचि अशुचि, समय असमय का विचार नहीं करतीं। जहाँ भी, जिस समय भी, जिससे भी हमें काम सुख मिलता है उसी की बन जाती हैं। इस प्रकार उसने सत्य

यथार्थ वचन कह कर मुझे सचेत भी किया था, किन्तु मेरी बुद्धि पर तो उस समय पत्थर पड गये थे। मैं तो कामान्ध होकर अपनी विवेक शक्ति को खो बैठा था। मुझे उसके ये शब्द भी अमृत के तुल्य प्रतीत हुए और इनसे मेरे मोह मे न्यूनता होने की अपेक्षा वृद्धि ही हुई। वह तो बार बार कहती रही।

मैं उसको दोष नहीं देता। उसे दोष देने का कोई कारण भी नहीं है कोई टेढ़ी मेढ़ी पड़ी रस्सी को सर्प समझले, तो दोष तो समझने वाले का है, रज्जु का तो कोई दोष नहीं यदि मैं अपनी इन्द्रियों को वश मे रखता, चित्त को चंचल न होने देता, उसे अवसर न देता, उसका स्पर्श आदि न करता, तो वह बल प्रयोग तो करती ही नहीं। मैंने तो जान बूझ कर प्रसन्नता से विष का पान कर लिया।

हाय ! मैं ठगा गया। मेरा सर्वस्व लुट गया, मैं कहीं का भी न रहा। मेरी मति मारी गयी, मैं अन्धा हो गया। सुख भी समझा तो मैंने अपवित्र वस्तु मे। जिस शरीर के अंग प्रत्यंग से दुर्गन्ध ही दुर्गन्ध निकलती है उसी शरीर को मैंने सुख का सागर माना। जिसे मैं अधरामृत कह कर पान करता था। वह क्या था चर्म से ढका हुआ रक्त युक्त पतला मांस था थूक से वह सना हुआ था, क्या विवेकी पुरुष उस अपवित्र वस्तु की ओर आंख उठाकर भी देख सकता है, किन्तु मैंने उसे ही सर्वस्व समझा। मूत्र औ रक्त से भीगे अंगों को पाकर मैं प्रसन्न होता था। विष्ठा के कीड़े भी तो मल में राध में पीव में कुल बुलाते हुए सुख अनुभव करते हैं, उन विष्ठा तथा पीव के कीड़ों में और मुझ में अन्तर ही क्या रहा। मैं बारम्बार प्रेम प्रेम चिल्लाता रहता था। मानों प्रेम चिल्लाता रहता था। मानों प्रेम शब्द का भी अपमान करता होऊँ। प्रेम तो नित्य वस्तु है साक्षात् भगवान का स्वरूप है। प्रेम तो प्रभु से ही किया जा सकता है। कहाँ तो असत् मलिन और परम घृणित यह शरीर और कहाँ सत्य, शुद्ध और

सर्व श्रेष्ठ प्रेम ये शब्द यथार्थ मे मैंने अमृत में विष घोल दिया। हलाहल को सुधा कह कर सम्बोधित किया।

प्रेम तो भगवान् का रूप है, किन्तु यह शरीर किसका है कुछ पता ही नहीं चलता माता पिता कहते हैं पुत्र का शरीर हमारे रज, वीर्य से बना है अतः हमारा है। स्त्री कहती है जब तुमने पैदा किया होगा अब तो अग्नि को साक्षी देकर मुझे मिला अतः मेरे प्राणनाथ का शरीर मेरा है। जिसके यहाँ काम करता है, वह कहता है मैंने इसे द्रव्य देकर क्रय कर लिया है अतः शरीर पर मेरा अधिकार है। सियार, गृद्ध, कुत्ते तथा अग्नि ये सब कहते हैं तुम बकते रहो जिसको जो खाता है उसी की वह वस्तु होती है। अन्त मे तो हमें ही खाना है। इस प्रकार इस शरीर के बहुत के ग्राहक हैं। और होता किसी का नहीं अन्त में पंच भूतों में मिल जाता है मुट्ठी भर भस्म हो जाती है। उसी अनित्य शरीर के पीछे स्त्री पुरुष मर रहे हैं। स्त्री कहती है—"तुम मेरे जीवन सर्वस्व हो प्राणनाथ हो जीवनाधार हो। पुरुष कहता है तुम चन्द्रवदनी हो, मृगनयनी हो, सुजघना विपुला हो, कमल नयनी हो, मेरी प्राणप्रिया हो तुम्हारी मन्द मन्द मुसकान पर मैं, सब कुछ त्याग सकता हूँ। काम का कैसी क्रूरता पूर्ण क्रीडा है। माया का कैसा ममता पूर्ण मोहक चित्र है।"

इसका एक मात्र उपाय यही है, कि इन्द्रियों को विषयों से हटाकर निरक्त हो जाय। विषय और इन्द्रियों के सयोग से मन में विकार हो ही जाता है। जो विषय कभी देखे सुने या भोगे नहीं होते उनके देखने से भी चित्त मे उनकी वासना भी नहीं उठती। इसलिये ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि शक्ति भर इन्द्रियों का विषयों से अधिक संयोग ही न हो। ऐसा करने से शनैः शनैः चित्त की चचलता नष्ट हो जाती है और मन स्थिर तथा शान्त

हो जाता है। इसलिये जहाँ तक हो कामियों का और कामिनियों का कभी भूल कर भी संग न करना चाहिये। त्याग मार्ग की दीक्षा लेने वाले को मन से भी इनका संग न करना चाहिये। जो भूल कर भी इनका संग करता है वह निश्चय ही फँस जाता है। मन का कभी विश्वास न करे कि यह मेरे वश मे हो गया। बड़े बड़े ज्ञानी ध्यानी और विवेकी पुरुषों को अभिमान आते ही यह चारों कोने चित्त पटक देता है और उनके अभिमान को चकना चूर कर देता है। अतः मैं उस अप्सरा का चिन्तन न करके निरंतर अच्युत भगवान् का ही चिन्तन करूँगा। उन्हीं की शरण में जाऊँगा।

भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र जी कहते हैं—"उद्धव! इस प्रकार महाराज पुरूरवा उर्वशी के लोक को छोड कर चले गये और अपने अन्तः करण में आत्मा रूप से स्थित मुक्त परमात्मा को पहिचान कर सुखी और शान्त हो गये। राजा को इतना मोह संग के कारण हुआ इसलिये परमार्थ की इच्छा रखने वाले पुरुषों को भी कामी पुरुषों का कुसंग न करना चाहिये। सदा सर्वदा संत जनो का संग करना चाहिये। जो मन कामियों में लगा है उसे ही भगवद् भक्तों :में लगाना चाहिये। उन्हीं से स्नेह अनुराग करना चाहिये। उन्हीं से स्नेह अनुराग करना चाहिये। निरन्तर सन्तों के समीप जाने से परमार्थ मे अपने आप रुचि होगी। सन्त जन भागवती कथाओं को सुनाते रहेंगे सदुपदेश देते रहेंगे इस से मन की विषया सक्ति नष्ट हो जायगी।

उद्धव जी ने पूछा—"भगवन्! अपने दुस्संग का परिणाम तो बताया अब सत्संग को महिमा को और सुनावें। सन्तों के समीप जाने से क्या लाभ होता है "

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है• उद्धव! अब मैं तुम्हें सत्संग का ही माहात्म्य सुनाता हूँ।"

सूत जी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान के शब्दों में आप सब सत्संग की महिमा श्रवण करें।

छप्पय

यों बहु विधि पछिताइ उरबशी पुर तजि आये।
मन महँ मो कूँ धारि शान्त ह्वै अति हरषाये॥
भयो यथारथ ज्ञान मोह को नातो तोर्यो।
सब जग तें मुख मोरि प्रेम मोई ते जोर्यो॥
जो चाहे कल्यान निज, जाइ न कबहुँ कुसंग महँ।
कामी कामिनि संग तजि, रहे सदा सतसंग महँ॥

संत समागम माहात्म्य

(१३१७)

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥
तेषु नित्यं महाभाग ! महाभागेषु मत्कथाः।
सम्भवन्ति हिता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यधम् ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० २६ अ० २८ श्लो०)

छप्पय

समदरशी शुचि सत सरलचित शान्त अमानी।
भोरे ममताशून्य अकिंचन निरमम ज्ञानी॥
होवें तिनके यहाँ कथा नित हरि की मनहर॥
सुनत होत अघनाश होहिं हिय निरमल सुखकर॥
सन्तनिके ढिँग बैठिकें, सुनें कथा जे चाव तें।
ते पावें ध्रुव परम पद, करें कीरतन भाव तें॥

यह जगत भाव मय है। मनुष्य जैसी भावना करेगा वैसा ही हो जायगा। शरीर क्या है, परमाणुओं का पुञ्ज है। जो जैसे

---

* भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी उद्धवजी से कह रहे हैं—"उद्धव! सन्तजन, निरपेक्ष, मुझमें चित्त लगाने वाले, प्रशान्त समदर्शी, निर्मम, निरहंकार निर्द्वन्द्व तथा निष्परिग्रह होते हैं। हे महाभाग! उन महाभाग सन्तों के यहाँ नित्य ही मेरी भागवती कथायें होती रहती हैं, जो कथायें मनुष्यों के लिये हितकारिणी तथा उनके सेवन करने वालों के सम्पूर्ण पाप को नाश करने वाली होती हैं।"

परमाणुओं से निर्मित होगा, वह वैसा प्रभाव अपने चारों ओर स्थापित कर लेगा। एक व्यापारी है व्यापार करते करते उसके अणु परमाणु मे व्यापार ही व्यापार घुस गया है। उसे जहाँ भी बैठा दो वहीं पर व्यापार की ही बात सोचेगा। बालू मे बिठा दो तो बालू के ही व्यापार की युक्ति लगावेगा। भिखारी को बैठा दो तो भीख की ही बात सोचेगा। जिसके विचार जितने ही दृढ़ होंगे, वह उतना ही अधिक अपने से निबल विचार वालों को प्रभावित कर सकेगा। एक मनुष्य है डाका डालते डालते उसके विचार दृढ हो गये हैं। दूसरा आदमी है डाका डालने को बुरा समझता है, किन्तु आजीविका के लिये विवश है, उसके मन म कभी क्षीण सा विचार हुआ कि इससे तो अच्छा यही था कि मैं डाका ही डालता। संयोग वश उसे वह दृढ विचार का डाका डालने वाला पुरुष मिल गया, उसने उसके प्रति सहानुभूति दिखलायी। अब उसके दृढ़ विचारों ने उसे उत्तेजित किया वह भी डाकू बन गया। डाकुओं का दल ऐसे ही तैयार हो जाता है। उनमें सभी डाकू नहीं होते दलपति के प्रभाव से प्रभावित होकर उनके ऐसे भाव हो जाते हैं।

हम जो बड़े बड़े ऋषि मुनियों के सम्बन्ध में पढ़ते सुनते हैं, कि उन्होंने इतने सहस्र वरष तक घोर तप किया फिर उस अप्सरा के फन्दे में फंस गये यह भी वैसे ही बात है। प्राणि-मात्र के हृदय में काम वासना स्वाभाविक होती है। उसे दबाकर तप करते हैं। जब काम वासना उत्पन्न होती है तब उसे वे दबाते हैं। यदि कोई शुद्ध आचरण की स्त्री उनके समीप जाय तो उनके मन मे कोई भाव ही नहीं उठता, क्योंकि दोनों के परमाणु शुद्ध हैं। अब जो अप्सरायें आती हैं, उनका तो काम है स्वर्गीय पुरुषों को काम सुख पहुँचाना। स्वर्गीय-पुरुषों का संग करते करते उनके काम के संस्कार सुदृढ़ हो जाते हैं। वे आकर

तपस्वी ऋषि मुनियों के समीप विनय दिखाती हैं सेवा सुश्रूषा करती हैं। प्रेम की भूख संसार मे प्राणिमात्र को है विशेष कर नारी जाति मे। जब वह तपस्वी के प्रति प्रेम प्रकट करती हैं, तो उनका आकर्षण होता है। वे उसका संग करते हैं, उसके संग से जिन काम के भावों को दबा रखा था, वे प्रबल परमाणुओं को पाकर उभर जाते हैं। और सम्मुख ही काम का आहार पाकर अत्यधिक उत्तेजना पूर्ण हो जाते हैं।"

यही दशा शुभ विचारों की है। संसार की अनित्यता देखकर सभी को थोड़ा बहुत वैराग्य अवश्य होता है, सभी शान्ति चाहते हैं, किन्तु घर गृहस्थी तथा सांसारिक झंझटों के कारण न तो वैराग्य टिकता है न चित्त शान्त ही होता है। साधु महात्मा निरन्तर संसार नाशवान् है ऐसी वैराग्य की ही बातें सोचते रहते हैं। वे मन को एकाग्र और शान्त करने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। उनके सम्मुख जब संसार की चपेट खाकर अशान्त चित्त को लेकर मनुष्य जाता है, तो उनके वैराग्य के प्रबल परमाणुओं से उसके वैराग्य के भाव उमड़ आते हैं उसे शान्ति का अनुभव होने लगता है। जब वे हट जाते हैं, फिर संसारी लोगों से बातें होने लगती हैं वह भाव शान्त हो जाता है, फिर संसार याद आ जाता है। विरागी के यहाँ जीवनोपयोगी अपनी इच्छानुसार सुविधा न देखकर भी वैराग्य ठंडा पड़ जाता है।

कहने का अभिप्राय इतना ही है कि जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसे अपने से दृढ़ विचार वालों का संग करना चाहिये। जिसे काम सुख की इच्छा हो उसे कामियों का और कामिनियों का संग करना चाहिये और जिसे भगवत् भक्ति प्राप्त करने की इच्छा हो उसे भगवत् भक्त सन्तों का संग करना चाहिये। सत् संग से बढ़कर परमार्थ प्राप्ति का और कोई भी

अन्य साधन नहीं। सत्संग से ही परमार्थ वस्तु की यथार्थ प्राप्ति हो सकती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने सत्संग के सम्बन्ध में समुत्सुकता प्रकट की तब उनको समझाते हुए श्यामसुन्दर कहने लगे—"उद्धव! जिन्हें इस संसार सागर से पार

जाने की प्रबल इच्छा हो उन्हें सदा सर्वदा सत्पुरुषों का ही संग करना चाहिये। कभी भूलकर भी कामिनियों का संग न करे। सज्जनों से अनुराग बढ़ाना चाहिये। जिसका जिससे अनुराग हो जाता है, वह उसे अपनी प्यारी से प्यारी वस्तु दे डालता है। सन्तों के पास सब से प्यारी वस्तु क्या है ज्ञान, वैराग्य और

भक्ति । ज्ञान वैराग्य तो भक्ति के पुत्र ही हैं । भक्ति होने पर ये बालक तो अपने आप ही पीछे पीछे लगे चले आते हैं। इसीलिये भक्त गण अपने आश्रितों को भगवान् की भक्ति का उपदेश देते हैं। साथ ही इस असार संसार से वैराग्य भी कराते हैं। संसारी समस्त वस्तुएँ नश्वर हैं, क्षणभंगुर हैं अशाश्वत हैं अतः इनमे मोह न करना चाहिये।"इस प्रकार के सदुपदेश दे दे कर वे उनके मनकी विषयासक्ति को जडमूल से मेंट देते हैं। सन्तों के समीप जाने वालों का कभी भी अकल्याण नहीं होता।

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन् ! सन्तों की पहिचान कैसे हो ? उनमे क्या क्या विशेषतायें होती हैं ?"

भगवान् ने कहा—"सन्त छिपे नहीं रहते। जैसे कस्तूरी नहीं छिपी रहती। सन्तों के गुण ऐसे अलौकिक होते हैं, कि वे बिना कहे ही प्रकट हो जाते हैं सन्तों में वैसे तो समस्त गुण ही गुण होते हैं, वे गुणों की खान ही हैं। फिर भी इतने गुण उनमे विशेष होते हैं—

१-निष्काम—सन्तों के मन में कोई सासारिक कामना नहीं होती। वे जो भी कर्म करेंगे कामना हीन होकर प्रभु प्रीत्यर्थ ही करेंगे किसी से मिलेंगे तो भी निस्वार्थ होकर परमार्थ भावना से ही मिलेंगे। सन्तों को कामना रह ही क्या सकती है, जिन्होंने समस्त कामनाओं के उद्गम स्थान, कामपूरक श्रीहरि को प्राप्त कर लिया है वे इन संसारी क्षणिक नाशवान् शब्द, रूप रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी सुखों की कामना कर ही कैसे सकते हैं।

२-मच्चित्त मद्गत प्राण—सन्तों का चित्त सदा मुझमें ही लगा रहता है। ऊपर से व्यवहार की बातें करेंगे साधारण लोगों की भाँति अन्य व्यापार भी इन्द्रियों से करेंगे किन्तु उनका चित्त

रहेगा मुझमें ही उनके प्राण श्वास श्वास पर मेरे ही नाम का उच्चारण करेंगे। उनका समस्त व्यापार मेरे ही निमित्त होगा।

३-प्रशान्त—सन्तजन सदा अत्यन्त शान्त रहते हैं, उनके मुख मण्डल से शान्ति टपकती रहती है। वे अत्यन्त उत्तेजना पूर्ण घटना से भी अशान्त नहीं होते। बिना तरगों के समुद्र के सदृश शान्त और गंभीर बने रहते हैं।

४-समदर्शी—सन्तों के हृदय मे यह भेदभाव नहीं रहता, कि ये मेरे घरके हैं ये बाहर केहैं, ये जाति कुटुम्ब तथा परिवार के हैं ये अन्य हैं। उनकी दृष्टि मे प्राणिमात्र सभी आत्म स्वरूप है। वैसे तो योनियों के अनुसार व्यवहार मे भेद करना ही पड़ता है। कोई रुग्ण है कोई स्वस्थ है उनके भोजन में भेदभाव करना ही होगा। कोई तीव्राग्नि वाला है, कोई मस्तिष्क का काम करने वाला है कोई शारीरिक श्रम करने वाला है उनके भोजन मे विषमता करनी ही होगी। कोई यजमान है कोई पुरोहित है कोई परिचारक है स्थान में भी भेदभाव करना होगा। इन बाहरी भेदों के होते हुए भी मनसे सब में एक ही आत्मा व्याप्त है इस भाव से जो सब में समभाव रखता हो। जिसकी दृष्टि में प्राणी एकमात्र सब बराबर हों वही सन्त हैं।

५-ममता शून्य—संसारी लोग ममता में फँसे हुए हैं, यह मेरा घर है, यह मेरा धन है ये मेरे बालक बच्चे, कुटुम्ब परिवार के लोग हैं, इनका दायित्व मेरे ही ऊपर है इन्हीं सब में ममता होने के कारण ससारी लोग दुखी और चिन्तित रहते हैं। संत समझते हैं हमारे तो एकमात्र श्रीहरि ही हैं। मुझे ही अपना सर्वस्व समझते हैं। मुझमें ही संसार की समस्त ममता को बटोरकर लगा देते हैं। जो भी करते हैं मेरी ही सेवा समझकर करते हैं, न वे किसी को अन्य समझते हैं न अपना सबको मेरा ही रूप

मानते हैं। इसलिये मुझे छोड़कर अन्य किसी में उनकी ममता नहीं होती।

६–अहंकार रहित—"संतों को यह अहंकार नहीं होता कि हम ज्येष्ठ हैं, श्रेष्ठ हैं। सब हमारी पूजा करें जो प्रतिष्ठा करें। जो हमारा आदर नहीं करता वह हमारा द्वेषी है शत्रु है यह जो शत्रुता लड़ाई भिड़ाई आदि होती हैं सबका कारण अहंकार ही है।

७–निर्द्वन्द्व—'सुख दुख, पाप पुण्य भला बुराई, ऊँच नीच, छोटा बड़ा, हानि लाभ, जीवन मरण कीर्ति अकीर्ति तथा और जितने संसार के द्वन्द्व हैं वे सब सन्तों मे नहीं होते। क्योंकि भगवान् में द्वन्द्व हैं ही नहीं फिर भक्तों में कहाँ से होंगे। वे तो द्वन्द्वातीत होकर आनन्द पूर्वक मेरे भजन मे लगे रहते हैं।

८–आकिञ्चन—"ससारी लोग भोग्य वस्तुओं का संग्रह इसलिये करते हैं, कि न जाने हमें समय पर अमुक वस्तु मिले या न मिले। इसलिये वे बहुत सी वस्तुओं का सग्रह करके रखते हैं, किन्तु भगवत् भक्त समझते हैं योग क्षेम चलाने वाले तो श्रीहरि ही हैं। जब वे जिस वस्तु को हमारे लिये उपयोगी और आवश्यक समझेंगे, तब उसे अवश्य दे देंगे, फिर सग्रह की चिन्ता क्यों करें। यही सोचकर वे किसी वस्तु का परिग्रह नहीं करते। हाँ कथाकीर्तन और मेरी पूजा की आवश्यक वस्तुओं का परिग्रह वे अवश्य करते हैं। मेरी पूजा के निमित्त की हुई वस्तुओं का संग्रह परिग्रह नहीं कहाता। क्योंकि मेरे सम्बन्ध से तो सभी वस्तुए निर्गुण बन जाती हैं। अपने या अपने आश्रितों के निमित्त वे कुछ भी नहीं रखते।"

इस प्रकार अकिञ्चन निर्द्वन्द्व सन्त मिल जायँ, तो उनके सत्संग से संसार बन्धन अति शीघ्र ही कट जाता है। अतः ऐसे सन्तों का ही सदा सत्सङ्ग करते रहना चाहिये।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! ये गुण तो भीतरी हैं। कोई बाहरी चिन्ह बतावें जिससे हम सन्तों को पहिचान सकें।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव ! जैसे संसारी लोग बिना खाये नहीं रह सकते, वैसे ही सन्त मेरी कथा बिना सुने नहीं रह सकते। उन्हें मेरी कथा सुनने का व्यसन होता है। जैसे मद्यपायी को एक बार भोजन न मिले तो रह सकता है किन्तु मद्य के बिना वह घबराने लगता है। उसी प्रकार मेरे भक्तों को प्रसाद न मिले तो उसकी चिन्ता नहीं किन्तु कथाकीर्तन तो अवश्य ही चाहिये इसीलिये मेरे भक्तों के स्थानों पर बिना व्यवधान के बारहों महीने मेरी कथा हुआ करती है। वे सौभाग्यशाली सन्त परस्पर में बैठकर मेरे ही सम्बन्ध की कथा करते रहते हैं। भागवती कथाओं की ही भाँति भाँति से आलोचना प्रत्यालोचना होती रहती है। संसारी लोगों के यहाँ इधर उधर की व्यर्थ बात ही होंगी, किन्तु मेरे भक्तों के यहाँ मेरे सुमधुर नामों का कीर्तन और मेरी मनहारिणी कथाओं का गान यही व्यापार होता रहता है। इन कथा और कीर्तन आदि कार्यों से संसार के सभी लोगों का कल्याण होता है। कथा सुनते हैं कीर्तन करते अथवा सुनाते हैं उन सब लोगों के पाप नाश हो जाते हैं। जो कथा कीर्तन को सुनकर प्रसन्न होते हैं, एकान्त में उनका मनन करते हैं दूसरों को सुनाते हैं, अनुमोदन समर्थन करते हैं दूसरों को करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं उन्हें मेरा अनन्य भक्ति प्राप्त होती है।"

उद्धवजी ने पूछा—"महाराज ! आप की भक्ति के अतिरिक्त उन्हें और क्या प्राप्त होता है ?"

हँसकर भगवान् ने कहा—"अरे, जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गयी उसे प्राप्त करने को अवशेष ही क्या रह गया। एकमात्र मेरी

भक्ति ही तो प्राणियों का परम प्राप्य स्थान है यही तो चरम लक्ष्य है। मुक्त अनन्त-गुण-सम्पन्न, आनन्दानुभव स्वरूप, सच्चिदानन्द घन, करुणावरुणालय, परब्रह्म परमात्मा में अनन्य भक्ति प्राप्त होना यही तो सब सुकृतों का फल है। जहाँ मेरी भक्ति प्राप्त हो गयी, वहाँ सभी इच्छाएँ एक साथ ही पूर्ण हो जाती है। जैसे कोई मनुष्य हिंसक जन्तुओं से पूर्ण घोर जंगल में अकेला माघ के महीने की रात्रि मे नगा पड़ा है। अब एक तो उसे बडा भारी जाड़ा लग रहा है, दूसरे उसे पग पग पर सिंह व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं का भय लग रहा है तीसरे अन्धकार के कारण दुखी है। अब उसे ठंड निवारण के लिये कुछ चाहिये, अन्धार मेटने को भी चाहिये और भय दूर करने को भी कुछ चाहिये। सब के लिये पृथक् पृथक् उपाय न करके अन्धकार मेटने के लिये उसने काष्ठ एकत्रित करके अग्नि जला दी। अग्नि जला देने से अंधकार भी मिट गया, तापने से जाडा भी भा गया और अग्नि के समीप हिंसक नहीं आते इससे भय भी दूर हो गया। जैसे एक अग्नि के जला देने से अन्धकार, शीत और भय तीनों ही निवृत्त हो जाते हैं वैसे ही भगवान् की भक्ति होने से सब कुछ प्राप्त हो जाता है। साधु पुरुषों का सत्सग करने से जन्म जन्मान्तर के पाप, ससार का भय और अज्ञान ये तीनों ही निवृत्त हो जाते हैं। इसलिये सुख की इच्छा रखने वाले पुरुषों को निरन्तर साधु सेवन करना चाहिये। इस संसार सागर मे डूबने उतरने वाले छटपटाने वाले और अवलम्ब की खोज करने वालों को एकमात्र ब्रह्मवेत्ता तथा शान्तचित्त समदर्शी साधु ही अवलम्ब हैं। भव जलधि में डूबते हुओं के लिये भगवद् भक्त महापुरुष ही सुन्ढ पोत के सदृश हैं। जैसे वायु, जल और अन्न ही प्राणियों का आधार है, मछलियों के लिये जल ही जीवन है। वैसे ही देहधारियों के लिये

मैं ही जीवन हूँ। जैसे अन्धे को लकड़ी का सहारा है, सद्यजात शिशु को माता के दूध का ही सहारा है उसी प्रकार दीन दुखियों का एकमात्र मैं ही सहारा हूँ। जैसे विद्वानों का विद्या ही धन है, व्यापारियों के लिये द्रव्य ही धन है परलोक मे धर्म ही धन है, उसी प्रकार ससार से भयभीत पुरुषो के लिये सन्तजन ही एकमात्र धन हैं। वे ही उनके परम आश्रय हैं।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! सन्तानों को माता पिता तथा पत्नी को पति ये भी तो सुख देते हैं। इन सब से बढकर सन्तों की इतनी महिमा क्यों है ?"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! माता पिता तथा पति आदि तो सांसारिक सुविधाओं का विशेष ध्यान रखते हैं। किन्तु सन्तजन तो परलोक का ही विशेष ध्यान रखते हैं। सूर्य उदय होकर बाह्य चक्षुओं को प्रकाशित करते हैं, किन्तु सन्तजन तो भीतर के चक्षुओं को भी खोल देते हैं, वे तो मेरा साक्षात्कार करा देते हैं। इसीलिये सन्तजन माता पिता हैं, सगे सम्बन्धी हैं, सुहृद् मित्र हैं सेवक और स्वामी है, इष्ट तथा देवता हैं, आत्मा तथा परमात्मा हैं कहाँ तक कहूँ उद्धव! सत में और मुझ भगवन्त में तनिक भी अन्तर नहीं। सन्त मेरा स्वरूप ही हैं। उन्हीं का निरन्तर संग करना चाहिये।"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! प्रतिष्ठानपुर पति महाराज पुरूरवा ऐसा निश्चय करके उर्वशी के लोक से पृथिवी पर चला आया और यहाँ आकर सन्तों का संग करते हुए स्वच्छन्द होकर तीर्थस्थानों मे विचरण करने लगा। वह अनासक्त और आत्माराम होकर अवनिपर पर्यटन करता हुआ जीवन्मुक्ति का आनन्द लूटने लगा। इसी प्रकार उद्धव! तुम भी सबकी मोह ममता छोड़कर पृथिवी पर विचरते हुए कालक्षेप करो। तुम्हारे लिये भी अब मेरी कृपा से कोई कर्तव्य शेष नहीं रह गया है। तुम एक-

मात्र मेरे पूजन को ही अपना कर्तव्य समझो। क्रियायोग द्वारा मेरा ही निरन्तर भजन करते रहो।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! क्रियायोग किसे कहते हैं? भक्तजन आपकी किस मूर्ति का ध्यान करते हैं? किसकी उपासना करते हैं? कैसे करते हैं? कृपा करके उस क्रियायोग को मुझसे कहिये।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! सभी ऋषि मुनियों ने मेरे क्रिया योग का वर्णन किया है।"

उद्धवजी ने कहा—"इसीलिये तो मुझे अत्यधिक जिज्ञासा हो रही है। देवर्षि नारदजी ने पाञ्चरात्र आदि में इसी का विस्तार किया है अङ्गिरा नन्दन भगवान् बृहस्पति ने, वेदों का व्यास करने वाले भगवान् व्यासदेव तथा अन्यान्य ऋषि महर्षियों ने भी मनुष्यों के परम कल्याणार्थ बारम्बार इसी क्रिया को परम साधन बताया है। आप ही इस क्रिया योग के आदि आचार्य हैं। आपने अपने पुत्र ब्रह्माजी के प्रति इस योग का वर्णन किया था। फिर ब्रह्माजीने इसका उपदेश अपने भृगु, शङ्कर आदि पुत्रों को किया। शङ्करजी ने पार्वती के पूछने पर उन्हें सुनाया। भगवन्! और वैदिक कर्म काण्ड आदि के लिये तो नियम है, अमुक न पढ़े अमुक पढ़े, किन्तु इस क्रिया योग का तो सभी आश्रम के लोगों को अधिकार है। स्त्रियाँ तथा शूद्र भी इस योग का आचरण करके अपना कल्याण कर सकते हैं। मेरे मत में इस क्रिया योग से सभी को परम लाभ हो सकता है। हे नाथ! उसी कर्मयोग की मेरी सुनने की इच्छा है। हे कमल नयन! आप मुझे इसका उपदेश दें हे जगदीश्वर! आप मेरी इच्छा पूर्ण करें। हे स्वामिन्! मेरी विनती स्वीकार करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजी ने इस प्रकार प्रभु से प्रार्थना की, तब भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है उद्धव!

अब मैं तुम्हें क्रिया योग का ही उपदेश दूँगा।" अब भगवान् ने जेस क्रिया योग का उपदेश दिया। उसे मैं आगे आप से कहूँगा।

छप्पय

अग्नि हुतासन लेत शीत तम सब नसि जावें।
त्यों संतनि संग पाप ताप तम सब नसि जावें॥
सत् संगति फल समुझि ऐल नृप सुखी भयो अति।
करि उद्धव-सत्संग लगाओ मम चरननि मति॥
उद्धव बोले दयानिधि, क्रियायोग मोते कहें।
कैसे तुमकूँ पूजि हम, नित पद पदमनि महँ रहें॥

—:o:—

क्रियायोग का उपदेश

(१३१८)

न ह्यन्तोऽनन्त पारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव ।
संक्षिप्तं वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २७ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

हरि बोले—यह क्रिया-योग है विस्तृत भारी ।
अति सुनास तें कहूं सबनिको जो हितकारी ॥
वैदिक, तान्त्रिक, उभय तीनि विधि पूजा मम प्रिय ।
पञ्चभूत, द्विज, अतिथि, मूर्तिनहँ अथवा निज हिय ॥
करै नित्यकरमनि निबटि, प्रतिमा सुघर बनाइकें ।
पत्र, पुष्प, फल नीर तें, मोमें चित्त लगाइकें ॥

नित्य नियम से भगवान् की कथा सुनना, कीर्तन करना, सेवा पूजा करना, वैष्णवोचित तिलक आदि धारण करना सदा अमानी बने रहना, सबका मान करना, सब में भगवान् को देखना, जीव-

---

* भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं—"उद्धव यह कर्मकाण्ड का विषय अनन्त है, इसका पार ही नहीं पाया जा सकता। इसलिये मैं पूर्वापर क्रम से संक्षेप में इसका वर्णन करता हूँ।"

मात्र पर दया करना, सभी कार्य भगवान के ही निमित्त करना, विषयवासनाओं से बचते रहना, समस्त कर्म केवल प्रभु प्रीत्यथ ही करना सदा सतो की सेवा करना, प्रभु प्रसादी पदार्थों को पाकर ही सन्तुष्ट रहना ये ही सब भगवद् भक्तों के लक्षण हैं। वैष्णव शास्त्रों में वार वार इन्हीं का वर्णन मिलता है। जिसने भी प्रश्न किये हैं इन्हीं से मिलते जुलते या ये ही प्रश्न किये हैं। इन सब मे प्रभु पूजा प्रधान है। इसलिये प्रभुपूजा पद्धति का प्रश्न कई वार हुआ हे और जिससे जिसने प्रश्न किया है, उसने उसे नानाप्रकार से इसका उत्तर दिया हे। भगवान् का पूना के अनेक प्रकार हैं, जिसे जो अनुकूल पडे, जिसका जो अधिकारी हा उसके लिए वही उचित है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धव जी ने भगवान् से क्रिया योग के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! इस कर्मकाण्ड का कहीं पार नहीं है। कर्मकाण्ड इतना विस्तृत है कि वेद, पुराण शास्त्र तथा समस्त स्मृतियो मे इसी का विस्तार है। सर्वत्र विधि निषेध का ही तो कथन है असख्यों तन्त्र हैं उन सब मे भी क्रिया योग का ही कथन है। कैसे पूना करनी चाहिये, किसकी पूजा करनी चाहिये किन किन द्रव्या से करनी चाहिये यही सबका प्रधान विषय हे।

उद्धवजी ने पूछा—'भगवान! पूजा के प्रकार की होती है?"

भगवान् ने कहा—"पूजा के अनन्त भेद हैं, किन्तु उन सब का तान मे समावेश हो जाता है। वैदिकी पूना, तान्त्रिकी पूजा और उभयात्मिका मिश्रित पूजा। जो वैदिक विधि से वेद मन्त्रों द्वारा पूजा की जाती है, वह वैदिकी पूना कहलाती है। जो पौराणिक तथा अन्य तान्त्रिक विधि से उन्हीं के मन्त्रो से पूजा होती है वह तान्त्रिकी पूजा कहाती है, जो दोनो मिली जुली विधि से, वेद तन्त्र दोनों के ही मन्त्रो से पूजा होती है वह मिश्रित पूजा

कहलाती है। जिसे जो पूजा अनुकूल पड़े वही उसको करनी चाहिये। तन्त्र पुराण मन्त्रों से पूजा स्त्री शूद्र आदि भी कर सकते हैं। वैदिकी तथा मिश्रित पूजा में अधिकार द्विज मात्र का ही है।"

उद्धव जी ने कहा—"हाँ, भगवान्! अब पूजा का प्रकार बतावें।"

भगवान् बोले—"देखो, जैसी पूजा करनी हो, पहिले उसका अधिकार प्राप्त करे। जैसे द्विज है, तो उसे शास्त्र विधि के अनुसार अपना यज्ञोपवीत संस्कार कराना चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों का प्रथम जन्म तो माता के उदर से होता है और दूसरा जन्म यज्ञोपवीत संस्कार के समय होता है। तभी उनकी द्विज संज्ञा होती है। इस प्रकार उपनयन के द्वारा द्विजत्व प्राप्त करके वह तीनों प्रकार की पूजा का अधिकारी हो जाता है। फिर उसे अत्यंत श्रद्धा भक्ति के सहित मेरी पूजा करनी चाहिये।"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन्! आपका कोई एक निश्चित आकार तो है नहीं आप तो निर्गुण निराकार हैं साधक आपकी पूजा कहाँ पर करे।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! मैं तो सर्वव्यापक हूँ। मुझे साधक प्रेम से जहाँ भी जिस स्थान में भी पुकारता है, वहीं मैं प्रकट हो जाता हूँ। मेरे भक्त प्रह्लाद ने खंभे को दिखाकर कहा—इसमें मेरे भगवान् हैं; तो मैं तुरन्त खंभे से ही निकल पड़ा। इसलिये जहाँ पर, जिस वस्तु में अपना विश्वास जमें वहीं मेरी पूजा करनी चाहिये।"

उद्धव जी ने कहा—"फिर भी महाराज! कुछ स्थानों का नाम निर्देश कर दें।"

भगवान् ने कहा—"मेरी प्रतिमा में पूजन करे प्रतिमा न

मिले पृथिवी में ही चबूतरा बनाकर वहीं पूजन कर ले, अग्नि में, सूर्य में, जल में, हृदय में, अतिथि तथा ब्राह्मण के शरीर में मेरी भावना करे उनकी श्रद्धाभक्ति पूर्वक पूजा करे। गुरुदेव को साक्षात परब्रह्म मानकर उनकी यथोचित् सामग्रियों से पूजा करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! पूजा के प्रथम कौन कौन कृत्य करना चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! नित्य कर्म से निवृत्त होकर ही तो पूजा होती है। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठे। लघुशंका आदि करके हाथ पैर धोकर कुल्ला करे। फिर प्रातःकालीन मेरा स्मरण करे। शास्त्रोक्त विधिसे शौच जाय, हाथ पैर आदि में मिट्टी लगाकर शुद्ध हो, फिर शुद्ध वृक्ष की दातौन करे। फिर नदी तालाब अन्य जलाशय कूप अथवा घर में ही स्नान करे। स्नान से पूर्व स्नान करने के जो वैदिक तान्त्रिक मंत्र श्लोक हैं उनका उच्चारण करे। फिर मंत्र पढ़कर शरीर में मिट्टी लगावे। संकल्प पूर्वक स्नान करे। सन्ध्या वन्दन आदि जो वैदिक नित्य कर्म हैं, उन्हें प्रथम कर ले। सन्ध्या तर्पण आदि से निवृत्त होकर तब कर्मों को पावन तथा कल्याण कारक बनाने वाली प्रतिमा आदिमें मेरी पूजा करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! आपकी प्रतिमा किस वस्तु की बनी हो?"

भगवान् ने कहा—'मेरी एक प्रतिमा थोड़ी ही है। प्रतिमाओं के अनेक भेद हैं। उनमें आठ भेद मुख्य हैं।'

उद्धवजी ने पूछा—"आठ प्रकार की प्रतिमा कौन कौन सी होती हैं। कृपा करके प्रथम आठ प्रकार की प्रतिमाओं के ही भेद बतावें।"

भगवान् ने कहा—"उद्धव! मेरी आठ प्रकार की प्रतिमायें ये हैं—

१-पाषाण प्रतिमा—"पत्थर को काटकर या पत्थर मे ही मेरी प्रतिमा बना लेना यह पाषाणमयी शैली प्रतिमा कहाती है। पत्थर लाल, सफेद, काला अथवा संगमरमर कैसा भी हो, जिसे जैसे पत्थर की जैसी प्रतिमा अनुकूल पड़े वैसी प्रतिमा बनाने वाले से बनवा लेनी चाहिये। या बनी बनायी क्रय कर लेना चाहिये।

२--दारुमयी प्रतिमा--"चंदन, नीम तथा अन्य शास्त्रोक्त वृक्षों की लकडी से जो प्रतिमा बनायी जाती है वह दारुमयी कहाती है। जैसे मेरा जगन्नाथ जी का कलेवर है।

३-धातु प्रतिमा--"सुवर्ण, चाँदी, पीतल, लोहा अष्ट धातु अन्यान्य धातुओं से जो प्रतिमा बनायी जाती है। उसे लौही प्रतिमा कहते हैं। ये प्रतिमायें साँचों मे ढाली जाती हैं, या धातुओं के पत्रों पर खोद कर निर्माण की जाती हैं।

४—लेप्या--चंदन को घिसकर या अन्न आटे आदि के लेप से जो प्रतिमाये बनायी जाती हैं वे लेप्या कहाती हैं। ऐसी प्रतिमायें बहुत दिन नहीं चलतीं।

५-लेख्य—गेरू आदि रंगों से जो भीत आदि पर बनायी जाती हैं अथवा अनेक रंगोंसे भोजपत्र या कागदों पर लिखी जाती हैं वे सब चित्रित की हुई प्रतिमायें लेख्या कहलाती हैं। यदि कागदों पर लिखी हों तो उनकी रक्षा के लिये काँच आदि लगाया जाता है।

६-सैकती--मिट्टी की अथवा बालू की जो प्रतिमायें बनायी जाती हैं, वे सैकती कहलाती हैं। रामावतार में मैंने श्री रामेश्वर जी की बालुकामयी ही शिवजी की पिंडी स्थापित की थी।

७—मणिमयी—इन्द्रनील मणि अथवा अन्य मणियों की भी प्रतिमा बनायी जाती हैं जैसे चिदम्बरम मे श्री शिवजी की मूर्ति।

८-मनोमयी—मन से मेरी अपनी इच्छानुसार मूर्ति की

कल्पना करके उसकी मानसिक ही पूजा की जाती है। इस भाँति आठ प्रकार की मेरी प्रतिमायें हैं। इनमें जब तक प्राण प्रतिष्ठा नहीं होती तब तक पूजा के योग्य नहीं होतीं।

उद्धवजी ने पूछा—"प्राण प्रतिष्ठा क्या भगवन् ?"

भगवान् ने कहा—"जब ये मूर्ति बन जायँ, तब शास्त्रोक्त विधि से इनमें प्राण की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। यह कहे—"इस प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठित हो। यदि और कुछ न भी कर सके तो कुश आदि को लेकर समस्त अङ्गों को स्पर्श करना चाहिये और यह भावना करनी चाहिये कि यह मूर्ति सजीव हो गयी है। शालग्राम शिला में प्राण प्रतिष्ठा करने की आवश्यकता नहीं। वे तो सदा सजीव ही हैं। मैं ही वृन्दा के शाप से शालग्राम रूप में परिणत हो गया हूँ। प्राण प्रतिष्ठा होने पर ही मूर्ति स्थापित होती है।"

उद्धवजी ने पूछा—"तो क्या भगवान्! प्राण प्रतिष्ठा हो जाने पर प्रतिमा को वहाँ से कभी हटाना ही न चाहिये ?"

भगवान् ने कहा—"प्रतिष्ठा दो प्रकार की होती है, एक चला प्रतिष्ठा दूसरी अचला प्रतिष्ठा। जिस प्रतिमा की चला प्रतिष्ठा होती है उसे तो चाहे जहाँ उठाकर ले जा सकते हैं, किन्तु जिसकी अचला प्रतिष्ठा है, वह तो एक स्थान पर ही स्थिर होकर रहता है। वह वहाँ से हटायी नहीं जा सकती। मेरे निवासस्थान रूप ये दोनों ही प्रकार की प्रतिमायें पूजनीय हैं। दोनों ही की पूजा पद्धति एक ही प्रकार की है। प्रथम आवाहन करे।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन्! चला-अचला दोनों प्रकार की प्रतिमाओं में आवाहन किया जाता है ?"

भगवान ने कहा—"जो मेरी अचला मूर्ति है, उसमें न आवाहन किया जाता है न विसर्जन उसमें तो मेरा नित्य ही निवास है। जो प्राण प्रतिष्ठा की हुई चला प्रतिमायें हैं उनमें चाहे तो

आवाहन विसर्जन करे चाहे न करे। क्योंकि वे भी तो नित्य ही हैं। जैसे तत्काल पूजन के लिये बालुकाकी मृत्तिका का, गोबर की प्रतिमा बनाते हैं तो उनका आवाहन विसर्जन तो आवश्यक ही है। ऐसी प्रतिमायें तो पूजन करके विसर्जित कर दी जाती हैं। चित्र आदि में भी आवाहन विसर्जन पूजक की इच्छा पर निर्भर है। जितनी पूजन की सामग्री जुटा सके एक बार जुटाकर रखले।"

उद्धवजी ने पूछा—"समय पर किसी द्रव्याभाव से या अन्य किसी कारण से पूजा की कोई आवश्यक सामग्री न मिले तो?"

भगवान् ने कहा—"तो न सही, जो वस्तु न मिले उसके लिये दुःख न करना चाहिये। अरे भाई मुझे सामग्रियों की कमी थोड़े ही हैं। मैं तुम्हारे नैवेद्य आदि वस्तुओं का भूखा थोड़े ही हूँ, मैं तो भाव का भूखा हूं। जो मेरा सच्चा भक्त है और वह भक्तिभाव से केवल मुझे जल ही देता है; एक चुल्लू जल मुझे अमृत से भी बढ़कर प्रिय है। और जो मेरा भक्त नहीं है केवल लोक दिखावे को अपना वैभव प्रदर्शित करने को वह मेरी भाँति भाँति के बहुमूल्य वस्तुओं से पूजा करता है, तो वह सामग्री मुझे उतनी प्रिय नहीं जितना भक्त का दिया हुआ केवल जल प्रिय है। कोई चाहे बिना भावभक्ति के सुन्दर चंदन छिड़ककर चार धूप बत्ती जलाकर, दीप दिखाकर पुष्प, माला तथा नैवेद्य आदि चढ़ा कर मुझे वश में कर ले यह असम्भव है।"

उद्धवजी ने कहा—"प्रभो! अब पूजा की प्रक्रिया बतावें।"

भगवान् ने कहा—"हाँ, तो स्नानादि से निवृत्त होकर पूजा करने बैठे। पूजा करने को सुन्दर कुशासन बिछावे। जिन कुशाओं के अग्र भाग पूर्व की ओर हों। उस पर मृगचर्म वस्त्र बिछाकर पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख होकर बैठे मूर्ति अपने सम्मुख होनी चाहिये। मूर्ति के सम्मुख बैठने में दिशा का विचार नहीं

होता। जैसे स्थिर प्रतिमा का मुख उत्तर को ओर है तो उनके सम्मुख दक्षिण पड़ता है, वैसे दक्षिणाभिमुख दैव कर्म में बैठना प्रशस्त नहा है, किन्तु मूर्ति के सम्मुख कोई दोष नहीं। पूजा की समग्र सामग्री सजाकर अपने दायें ओर किसी पीढ़ा आदि पर रख ले जिस मन्त्र से पूजन करता हो उससे प्रथम अपने शरीर में अङ्गन्यास करन्यास कर ले। जिस मन्त्र से पूजन करता हो उस मन्त्र के ऋषि का शिर में न्यास करे, छन्द का मुख में और देवता का हृदय में। जैसे गायत्री मन्त्र है। इसके ऋषि विश्वामित्र हैं, छन्द गायत्री ही है और देवता सूर्य हैं। तो इन्हें क्रमशः सिर, मुख और हृदय में न्यास करे। स्वयं अङ्गन्यास करन्यास करके मूर्ति में भी वैसे ही करे। क्योंकि स्वयं देवता होकर ही देवता का पूजन करना चाहिये। मन्त्रन्यास के अनन्तर प्रतिमा के आगे जो कल के पुष्प आदि रखे हों उन्हें हटाकर एक पात्र में रख दे। उनके सिंहासन आदि को स्वच्छ करे जिस कलश के जल से पूजा के लिये जल लेते हैं, उस कलश का तथा प्रोक्षिणीपात्र का यथावत् संस्कार करे। कलश का पूजन करे। फिर उस पूजा किये हुए जल को लेकर पूजा की समग्र सामग्री पर जल के छींटे दे। अपने शरीर का तथा पूजा स्थान का भी प्रोक्षण करे। अब तक ये सब पूजा की तैयारियाँ हुईं। अब पूजा आरम्भ करे। हाँ एक बात तो रह ही गयी। पचपात्रों को यथा क्रम लगाकर उनमें जल भर रखे।"

उद्धवजी ने पूछा—"पञ्च पात्र किसे कहते हैं भगवान्!"

भगवान् ने कहा—"देखो, एक बड़े पात्र में पाँच कटोरियों को रखे। एक कटोरी बीच में रहे चार उसके इधर उधर जैसे चार दल का कमल। बीच की कटोरी कर्णिका के स्थान में रहे उसके चारों कोनों की चार कटोरी चार दल के सदृश। उन पाँचों पात्रों का ही नाम पञ्च पात्र है। एक चमचो उसमें रख दे। पाँचों

पात्रों मे जल भर दें। पात्र या तो तांबे के हो या सुवर्ण अथवा चाँदी के। उनमे केशर चंदन आदि डाल दे। बीच की कटोरी शुद्ध जल की। एक पाद्य की एक अर्घ्य की एक आचमनीय जल की और एक स्नानीय जल की। उन सब मे शास्त्र विहित वस्तुएँ डाल दे। जेसे पाद्य-पैर धोने के जल में समाँ, दुर्गा, विष्णु कान्ता तथा तुलसी दल और गंध आदि। अर्घ्य के पात्र में गन्ध, पुष्प, अक्षत (विष्णु के लिये सफेद तिल या जल) सरसों, दुर्वा, कुश तथा दूध, दही भी डाल दे। आचमनीय जल मे लवंग, जायफल, कर्पूर आदि सुगन्धित वस्तुएँ डाल दे। नहीं तो मन मे तुलसीदल ही डाले। फिर त्रिपदा गायत्री के तीन पादों से-हृन्मन्त्र, शिरोमन्त्र और शिखामन्त्र से-क्रमशः पाद्य, अर्घ्य ओर आचमनीय के पात्रों को अभिमन्त्रित करे ओर अन्त मे सम्पूर्ण गायत्री मन्त्र से पाँचो पात्रो को अभिमन्त्रित करे। तदनंतर कोष्ठ शुद्धि करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"कोष्ठशुद्धि किसे कहते हैं, भगवन् !"

भगवान् ने कहा—"प्राणवायु सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त है उसी से जीवन है। जठर मे रहनेवाली अग्नि ही समस्त धातुओं को पकाती है। ऐसी भावना करे, कि यह सम्पूर्ण शरीर प्राणवायु और जठराग्नि द्वारा उसी प्रकार शुद्ध हो रहा है, जिस प्रकार अग्नि में तपाया जाने वाला सुवर्ण फूँकनी की वायु से तपकर शुद्ध और निर्मल बन जाता है। जब पिंड शुद्धि हो जाय तो हृदय मे स्थित अष्टदल कमल मे रहनेवाली मेरी उस परम सूक्ष्म और उत्तम जीवकला का ध्यान करे जिसका सिद्धगण नाद के अन्त मे भावना द्वारा ध्यान करते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"नाद के अन्त मे सिद्धगण किस जीव कला का ध्यान करते हैं प्रभो !"।

भगवान् ने कहा—"मैं वाच्य हूँ, प्रणव मेरा वाचक है। प्रणव की पाँच कलायें हैं। अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नाद। नाद के पश्चात् ही मैं परात्पर ब्रह्म हूँ अतः मेरा ही ध्यान करना चाहिये। मैं अन्तर्यामी रूप से घट घट में व्याप्त हूँ। जितने शरीर हैं, सब मेरे रहने के मन्दिर हैं। मैं आत्मभूत जीवकला के रूप में सब में प्रतिष्ठित हूँ, अतः सर्व प्रथम मानसिक उपचारों से पिंड में ही मेरी पूजा कर लेनी चाहिये। क्योंकि जो पिंडमें है वही ब्रह्माण्ड में है। जिसकी पिंड में मानसिक पूजा की जाती है उसी की प्रतिमा रूप से नाना सामग्रियों द्वारा बाह्य पूजा होती है। इसलिये भीतर मानसिक पूजा करके उनका ही प्रतिमायें आदि में आवाहन करके स्थापित करे। फिर मन्त्रों द्वारा यथा विधि अङ्गन्यास करके तब पूजा प्रारम्भ करे। आवाहन के अनन्तर आसन प्रदान करे। ऐसी भावना करे कि आसन अष्टदल कमल का बना हुआ है। उसके आठों दिशाओं के आठों दलों पर आठशक्ति हैं और बीच की कर्णिका पर नवमी शक्ति स्थित है। उन नव शक्तियों के आसन को मुझे बैठने को दे।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन्! नव शक्तियाँ कौन कौन सी हैं?"

भगवान् ने कहा—"विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योग. प्रह्वी, सत्या, इशाना और अनुग्रहा ये नव शक्तियाँ हैं। मेरे आसन पीठ की पर्यङ्क रूप में भावना करे। उस पर्यङ्कपीठ में धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये तो चार पाये हैं। अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य ये पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण चारों दिशाओं के डंडे हैं। पीठ में जो सहारा लेने का पृष्ठ भाग है उसमें सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। इस दिव्य आसन की कल्पना करके उस पर मुझे बिठावे। तब पाद्यादि से पूजन आरम्भ करे।

पूजा के प्रथम यथास्थान मेरे अस्त्र आयुध और पार्षदों को स्थापित करे।

उद्धव जी ने पूछा—"महाराज! आपके अस्त्र आयुध पार्षद कौन कौन हैं?"

भगवान् ने कहा—"सुदर्शन चक्र, पाञ्च जन्य शङ्ख, कौमोदिकी गदा, खड्ग, वाण, धनुष, हल, मुसल, ये आठ आयुध हैं, इन्हें यथा स्थान स्थापित करे। फिर कौस्तुभमणि, वैजयन्ती माला, तथा श्रीवत्स का चिन्ह ये भी मेरे नित्य अङ्ग है। नन्द, सुनन्द, गरुड, चण्ड, प्रचण्ड, बल, महाबल, कुमुद, कुमुदेक्षण, दुर्गा, विनायक, व्यास, विष्वक्सेन, गुरुओं तथा देवताओं को भी यथा स्थान स्थापित करे। इनका भी प्रोक्षण करके पूजन करे। पहिले पार्षदो का पूजन करके तब मेरा पूजन करे। अथवा साङ्गाय सपरिवाराय कह कर साथ ही पूजन कर दे।

आवाहन आसन के अनन्तर पाद्य दे। अर्घ्य आचमन देकर स्नान करावे। यदि सामर्थ्य हो तो नित्य पचामृत से स्नान करावे। चन्दन, उशीर, कर्पूर कुङ्कुम और अगुरु द्वारा सुगन्धित जल से स्नान करावे। अभिषेक के जो वैदिक मन्त्र हैं जैसे स्वर्ण धर्मानुवाक, महापुरुष विद्या, पुरुष सूक्त अथवा सामवेदोक्त राजनादि मन्त्र इनका पाठ करता हुआ मुझे स्नान करावे।"

उद्धव जी ने कहा—"भगवान्! पाषाण तथा धातु आदि की प्रतिमा में तो स्नान कराना उचित ही है, किन्तु कोई प्रतिमा भीत पर लिखी जाय या कागद आदि पर बनायी जाय, और उसे स्नान कराया जाय, तब तो वह गल ही जायगी।"

भगवान् ने कहा—"देखो, स्नान तो पाषाण धातु आदि की ही प्रतिमा में होता है। जो भीत आदि पर लिखी हो, उसमें केवल छींटा दे दे। कागद आदि पर बनायी हो, तो गीले कपड़े से मार्जन कर दे। इसी प्रकार वस्त्र और अलकारों के सम्बन्ध में

है। धातु पाषाण आदि की प्रतिमा में अलंकार धारण करावे वस्त्र पहिनावे, किन्तु जो चित्रपट है भीत आदि पर हैं उनको वस्त्रालंकार कैसे पहिनाये जा सकते हैं।" स्नान के अनन्तर मेरी प्रतिमा को यथोचित वस्त्र पहिनावे, अलंकार धारण करावे, चन्दन लगावे, पत्र, पुष्प आगे रखे, माला पहिनावे, इत्र आदि सुगन्धित वस्तुओं को लगावे। इस प्रकार यथोचित रीति से मेरी प्रातमा का सुन्दर शृंगार करे। इस प्रकार आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नानीय, वस्त्र, आभूषण यज्ञोपवीत, चन्दन, पुष्प, माला, इत्र, धूप, दीप आदि से पूजा करके फिर नैवेद्य लगावे।"

उद्धव जी ने पूछा—"महाराज ! नैवेद्य किस वस्तु का लगावे।"

भगवान् ने कहा—"अरे भाई ! नैवेद्य का कोई नियम थोड़े ही है । जैसी अपनी शक्ति सामर्थ्य हो । बहुत से चार बतासे ही नैवेद्य में रखते हैं। यदि सामर्थ्य हो सके तो सुन्दर से सुन्दर उत्तम से उत्तम स्वादिष्ट, मनोहर पदार्थों का भोग लगावे। गुड़ शर्करा की बनी नाना भाँति की मिठाइयाँ हैं, हैं, बादाम, पिस्ता तथा मेवा पड़ी हुई शुद्ध अधौटा दूध की खीर है, रबड़ी है, मोहन थार है, पपड़ी हैं, माल पुए हैं पूड़ी, पूआ, लुचई, मठरी, हलुआ, दही बड़े, श्री खण्डघृत की बने और भी अनेकों पदार्थ, लड्डू, पेड़ा, बरफी, जलेबी, दाल मोंठ, रायते, पापड़, गुझियाँ चटनी, अचार, साग, दाल, भात, कढ़ी तथा और भी खट्टे, मीठे, चरपरे, नमकीन सोंधे षड् रस युक्त छप्पन प्रकार के भोग नित्य लगावे। नित्य न लगा सके तो पर्वों पर छप्पन भोग अन्न कूट करे। उन पर्वों पर विशेष स्नान अभिषेक करावे, सुन्दर सुगन्धित तैल, उबटन दर्पण, दन्त धावन तथा विशेष फल, फूल तथा भोज्य पदार्थों को संग्रह करे। नृत्य कर–

वावें, भाँति भाँति के बाजे बजवावे, नाटक अभिनय करावे सारांश यह कि महाराजाओं का विभूति से मेरी अर्चा करे। महामहोत्सव मनावे। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में क्रिया बतायी, अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ?"

उद्धव जी ने कहा—"भगवन्! आपने पीछे कहा था कि मेरी पूजा जल में, थल में, अग्नि में, हृदय में, ब्राह्मण में तथा प्रतिमा मे करे। उनमें से आप ने प्रतिमा पूजन की विधि तो बतायी अब जल मे, स्थल में, अग्नि तथा हृदय आदि मे आपकी पूजा कैसे की जाय, कृपा करके इनकी विधि और बताइये।"

भगवान् ने कहा—"देखो भैया,! पूजन तो प्रायः सब में एक सा ही होता है फिर भी अग्नि जल आदि में मेरी भावना से पूजन करने मे कुछ अन्तर हा जाता है। उसको भी मैं अत्यन्त संक्षेप में तुम्हें बताऊंगा।'

सूत जी कहते हैं—"मुनियो! अब जिस प्रकार भगवान् अग्नि आदि मे अपनी पूजा का प्रकार बतावेंगे उसे भी मैं आप से कहता हूँ। आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

जो मिलि जावे वस्तु अलप वा बहु पूजन की।
साङ्ग सहित परिवार करै पूजा इन सब की॥
पाद्य अरघ इस्नान, धूप दीपादिक दै कें।
नानाविधि नैवद्य धरे, अति हरषित ह्वै कें॥
दै मुखशुद्धी, प्रदच्छिन, समायाचना बहु करै।
भाग लेइ निज शीश पै, चंदन चरनामृत धरै॥

अग्नि आदि में पूजन

(१३१९)

अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्चयेत् ।
सर्वभूतेष्वात्मनि च सर्वात्माहमवस्थितः ॥*

(श्री० भा० ११ स्क० २७ अ० ४८ श्लो०)

छप्पय

वेदी सुघर बनाइ अगिनिमहँ पूजै विधिवत ।
करि पुनि मेरो ध्यान समिध आहुति दे घृतयुत ॥
आज्यभाग आधार देहि शाकल्य आज्यमय ।
मूल मन्त्र पढ़ि देहि स्विष्टकृत् करै सदाशय ॥
रवि उपासना अरघ दै, जलमहँ जल तरपन करै ।
अतिथि विप्र नैवेद्य तैं, पूजै या करमनि करै ॥

अग्नि में हवन करो, जल में तर्पण करो, अथवा विप्र के मुख में अन्न की आहुति दो, गो को घास खिलाओ अथवा समस्त भूतों में भगवान् को समझकर सब का श्रद्धा भक्ति सहित आदर

* भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी कह रहे हैं—"उद्धव ! उपासना करने वाले का प्रतिमा, अग्नि, जल आदि में जहाँ जिस समय जिसमें श्रद्धा हो वहाँ उसी में उपासना करे, क्योंकि मैं तो सभी प्राणियों में तथा अपने स्वरूप में सर्वात्मभाव से अवस्थित हूँ।"

नमस्कार करो ये सब भगवान् की ही पूजायें हैं। सर्वव्यापक भगवान् को जहाँ जिस भावना से भजोगे—पूजोगे—तहाँ वे उसी भावना से प्रकट होकर पूजा ग्रहण करेंगे। वे सर्वात्मा सर्वेश्वर भाव से सन्तुष्ट होते हैं। जिसे जहाँ अनुकूल पडे उसे वहीं पूजा करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब उद्धवजी ने प्रतिमाओं के अतिरिक्त अन्य स्थानों की पूजा का प्रश्न किया तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव! जैसे प्रतिमा में पूजन होता है, वैसे ही अग्नि में भी मेरा पूजन होता है।"

उद्धवजी ने पूछा—'महाराज! अग्नि में आप का पूजन किस विधि से होता है?"

भगवान् ने कहा—"अग्नि में मेरी पूजा करने वाले साधक या चाहिये कि हवन करने की एक वेदी बनावे। वह वेदी मेखला और गर्त से युक्त हो। चाहे तो हवन कुन्ड खोदकर बनावे या वैसी ही वेदी बना ले। फिर उस वेदी पर अथवा कुण्ड में विधिवत अग्नि की स्थापना करे। तदन्तर उसे प्रज्वलित करे। या तो फूँकनी से फूँके या पखा से जलावे अथवा ब्राह्मण हाथ में फूक लगाकर उसे फूँके। सीधी अग्नि में फूँक कभी भी न मारे। अग्नि के प्रज्वलित होने पर कुशाकण्डिका करे। अर्थात् वेदी के चारों ओर कुशा बिछावे। कुशा बिछाते समय इतना ध्यान रखे कि कुशाओं का अग्रभाग दक्षिण की ओर न होने पावे। कुशाओं के बिछ जाने पर उनका प्रोक्षण करे। फिर समिधाओं का अन्वाधान (एकत्रित-करण) कर्म करके अग्नि के उत्तर भाग में हवनीय समस्त सामग्री को रखे। जितने पात्र हैं उन सबको धोकर स्वच्छ कर ले। फिर प्रोक्षिणी पात्र से होमोपयोगी समस्त सामग्री का प्रोक्षण करे। आचमन करे, प्राणायाम करे और अग्नि में मेरे चतुर्भुज रूप का ध्यान करे।"

उद्धवजी ने पूछा—"ध्यान कैसे करें भगवन्।"

भगवान् ने कहा—"तप्त सुवर्ण के सदृश मेरा तेजोमय वर्ण है। चार विशाल भुजायें हैं, उनमे शख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित हैं। मेरे सुन्दर सुकुमार शान्त शरीर पर कमल के शरके सदृश पीताम्बर शोभा पा रहा है, मनोहर दिव्य अङ्गो मे मणिमय दिव्य आभूषण हैं। यथा सिर पर किरीट, कानों मे कुडल, नाक मे नकवेसर, कठ मे हार तथा वनमाला करो मे कङ्कण, भुजाओं मे भुजबन्द, वक्ष.स्थल मे श्रीवत्स और कमनीय कान्तियुक्त कौस्तुभ मणि, कटि में करधनी तथा चरणो मे नूपुर शोभायमान हैं, ऐसे मेरे त्रैलोक्य मोहन रूप का ध्यान करे। फिर पूजा के बारह बारह अगुल की तीन समिधाओ को घृत मे डुबोकर आहुति दे। फिर प्रजापति और इन्द्र के लिये तथा अग्नि और सोम के लिये आधार और आज्य भाग नाम की दो दो घृत की आहुतियों को दे। तदनन्तर शावल्य की आहुतियो को दे।"

उद्धवजी ने पूछा—"आहुति किस मन्त्र से दे भगवन्।"

भगवान् ने कहा—"जिसका जो मन्त्र हो उसी मूल मन्त्र से आहुति दे। अष्टाक्षर, द्वादशाक्षर, गायत्री अथवा पुरुष सूक्त से स्वाहा अन्त में लगाकर हवन करे। फिर जैसा शास्त्रों मे बताया है पूजन क्रम से धर्मादि देवताओं के लिये भी उन उन मन्त्रा से आहुति दे। अन्त मे स्विष्टकृत् हवन करे। स्रुवा से घृत की आहुति देकर जो थोडा बचे उसे—"यह अमुक देवता का भाग है मेरा नहीं।" ऐसा कह कर जल पात्र मे छोडता जाय।"

इस प्रकार हवन करके पूर्णाहुति दे। पूजा और नमस्कार के अनन्तर नन्द सुनन्ददादि भगवत् पार्षदा को बलि प्रदान करे। तदनन्तर भगवान् का स्मरण करता हुआ मूल मन्त्र का कुछ काल

जप करे। भगवान् के पार्षदों में जो विश्वक्सेन जी हैं, वे भगवान् के प्रसाद को ही पाते हैं। अतः भगवान् के भोग को उतार कर आचमन कराकर—भगवत् प्रसाद को विष्वक्सेन जी को निवेदन करे। मुख शुद्धि के लिये ताम्बूल आदि देकर फिर आरती और पुष्पाञ्जलि करे। फिर मेरे नामों का गुणों का गान करे, मेरी कथा कहे सुने, मेरे चरित्रों का अभिनय करे। तदनन्तर सब पूजा पाठ नाच गान करके कुछ काल विश्राम करे।

सब प्रकार की पूजाओं में आरती, प्रदक्षिणा, पुष्पाञ्जलि, नमा प्रार्थना एक सी ही हैं। वेदों के मन्त्रों से पुराणों के मन्त्रों से अथवा प्राकृत भाषा के स्तोत्रों से मेरी स्तुति करे। सब साधारण में जो स्तुति, विनय पद प्रचलित है। भक्तगण जिन्हें भगवान् के सम्मुख गाते हैं पाठ करते हैं उनसे विनय करे और गद्‌गद् कंठ से कहे—'हे प्रभो! आप इस पामर प्राणी पर प्रसन्न हो जाइये। हे परमात्मन्! मेरे समस्त अपराधों को क्षमा कीजिये।" इस प्रकार विनती करके भूमि में लोटकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करे। अपने सिर को मेरे चरणों में रखे और दायें हाथ से मेरा दायाँ चरण और बायें हाथ से बायाँ चरण पकड़कर विनती करे—'हे प्रभो! मैं इस मृत्यु रूप ग्राह से युक्त संसार सागर से भयभीत हो रहा हूँ, हे शरणागत-वत्सल! मुझ शरणागत की आप रक्षा करें।"

इस प्रकार साष्टाङ्ग प्रणाम करके मेरा निर्माल्य नैवेद्य, चरणामृत ले। मेरी चढ़ी माला को श्रद्धा भक्ति पूर्वक मेरा प्रसाद मानकर मस्तक पर धारण करके पहिन ले। प्रसाद चरणामृत ले। यदि प्रतिमा विसर्जन की हो तो उत्तर पूजन करके उनसे कह दे—"हे सुर श्रेष्ठ! अब आप अपने स्थान जायँ मेरी इष्ट वस्तु तथा मनोकामना की पूर्ति करें और जब मैं फिर आवाहन

करूँ तब आप पुनः पधारें।' यदि विसर्जन न करना हो तो प्रणाम करके शयन करा दे।"

इस प्रकार अग्नि में आहुतियों द्वारा, सूर्य नारायण में अर्घ्य आदि से। जल में तर्पण आदि से तथा प्रतिमादि में सविधि पूजनादि से मेरी पूजा करे। उपासक की जिस समय जहाँ पर जैसी श्रद्धा हो, उस समय वहाँ पर वैसी ही पूजा करे। क्योंकि

मैं तो सदा सर्वदा सब में समान भाव से विराजमान हूँ। इस प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार वैदिक्तान्त्रिक अथवा मिश्रित विधि से मेरा पूजन करके साधक लौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है। यह मैंने अत्यंत संक्षेप में प्रतिमादि के पूजन की विधि कही अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ?'

उद्धवजी ने कहा—'महाराज ! प्रतिमा को घर में ही स्थापित करके पूजा करें ?'

भगवान ने कहा—"भैया, यह तो अपनी सामर्थ्य के ऊपर निर्भर है। जिसकी इतनी सामर्थ्य न हो, कि मेरा प्रथक् मन्दिर बनवा सके, वह घर में ही एक पूजा स्थान बनाकर पूजा करे। जिसमें सामर्थ्य हो, वह मेरी जितने भी वैभव से पूजा कर सके करे। संसार की समस्त सामग्रियाँ तभी सार्थक समझी जाती हैं, जब वे मेरी सेवा पूजा के उपयोग में आवें। धन होने पर भी जो वित्त शाठ्य करता है, धन को मेरी सेवा पूजा में नहीं लगाता, वह कृपण है, उसका धन व्यर्थ है, वह उसे चोरी की वस्तु की भाँति विधवा के गर्भ की भाँति सदा छिपाये रहता है। इस पाप से वह नरकों में जाता है। अरे, धन को आज तक कौन संग ले गया है। जितना परमार्थ में लग जायगा उतना ही साथ जायगा। जितना यहाँ जमा होता जायगा उतना ही अनर्थ होता जायगा उतना ही अनर्थ करेगा, इसलिये अपने को केवल धन का संरक्षक समझे और उससे भगवान् की पूजा सम्बन्धी ही कार्य अत्यन्त उल्लास और प्रमोद के साथ करे।'

उद्धवजी ने पूछा—"धन होने पर क्या क्या करे महाराज ?"

भगवान् ने कहा—"यदि भाग्यवश धन मिल जाय, तो उसे अपना न समझे। अपने को तो केवल उठाने धरने वाला लेखा लिखने वाला सेवक और लिपिया माने सुन्दर सुन्दर पाषाण मँगवाकर अत्यन्त दिव्य देवालय बनवाये। उसमें मनोहर चित्रकारी करावे। आसपास में सुन्दर पुष्पोद्यान लगवा दे। विद्यार्थियों के लिये पाठशाला खुलवा दे। मेरी नित्य और नैमित्तिक दोनों प्रकार की पूजा का यथोचित प्रबन्ध कर दे। नित्य भगवान् का दिव्य भोग लगे। साधु, महात्मा, अतिथि अभ्यागत, विद्यार्थी तथा कर्मचारी भगवान् का प्रसाद पावें। नित्य धूमधाम से आरती हो, विद्यार्थी गण वेदपाठ करें। बड़े बड़े उद्यान हों। उत्सव स्थान हों, उनमें सुन्दर फल पुष्पयुक्त वृक्ष हों। नाना

भाँति पुष्पों की बड़ी बड़ी नित्य मालायें बनें। फल मेरे भोग के काम आवें। तुलसीजी की बहुत सी क्यारियाँ हों। नित्य चंदन, चरणामृत, तुलसी प्रसाद माला आदि बाँटा करें। नित्य की पूजा सविधि हो। नित्य की पूजा के अतिरिक्त नैमित्तिकी पूजा भी समय समय पर हुआ करे।"

"नैमित्तिकी पूजा क्या भगवन्?"—उद्धवजी ने पूछा।

भगवान् बोले—"विशेष पर्व और उत्सवों की पूजा को नैमित्तिकी पूजा कहते हैं। जैसे रामनवमी, जन्माष्टमी, नृसिंह चतुर्दशी, वामन द्वादशी, रथ यात्रा, दोलोत्सव, दीपावली, दशहरा तथा अन्यान्य विशेष पर्व। इन पर्वों पर विशेष धूम धाम के सहित पूजा करे। मेरी सवारी निकाले बाजे बजवावें, नृत्य, गीत, संकीर्तन, अभिनय तथा और भी आनन्दोल्लास के कार्य करे। मेरी सवारी को गाजे बाजे के सहित नगर में घुमावे। वसन्त आदि का उत्सव करे। झूलनों में झूला डाले दोलोत्सव में दोला बनावे। जयन्तियों में जयन्ती उत्सव मनावे। ऐसा प्रबन्ध कर दे कि ये उत्सव सदा चलते रहें।"

उद्धवजी ने पूछा—"सदा उत्सव चलते रहें, इसके लिये क्या करे ?"

भगवान् ने कहा—"मेरी पूजा के लिये पृथक् निधि निकाल दे। राजद्वार में उसकी लिखा पढ़ी कर दे। कुछ गाँवों तथा नगरों को देवता के नाम लगा दे। उपजाऊ खेतों को बाग बगीचों को मन्दिर में लगा दे। उपजाऊ खेतों के बाग बगीचा को मन्दिर में लगा दे। बड़े बड़े नगरों में दुकानें हैं—जो किराये पर उठती हैं, उन दुकानों को मन्दिर में लगा दे। और भी जो नियमित आय के साधन हों उन्हें कर दे। जिससे मासिक, वार्षिक आय आती रहे। जो इस प्रकार इस लोक में मेरे नाम से ऐश्वर्य

लगा देते हैं उन्हें अन्त में मेरे ही समान ऐश्वर्य प्राप्त होता है।"

उद्धवजी ने पूछा—'किस पूजा के कृत्य से कौन सा ऐश्वर्य प्राप्त होता है ?"

भगवान् ने कहा—"जैसे कोई पुराना मन्दिर है उसकी प्रतिमा खडित हो गयी है। अथवा कोई मन्दिर बनाकर छोड गया है प्रतिमा स्थापित नहीं कर गया है। ऐसे मन्दिरो मे जो प्रतिमा प्रतिष्ठा करा देता है। वह इस कर्म के फल से स्वर्ग में जाता है और स्वर्ग के सुखों को भोगकर अन्त मे सार्वभौम राज्य को पाता है। कोई मन्दिर है, टूट गया है जीर्ण हो गया है उसे तीनो लोकों का आधिपत्य प्राप्त हो जाता है, वह स्वर्ग में जाकर देवताओं का राजा इन्द्र बन जाता है। कोई मन्दिर है उसमें मूर्ति भी स्थापित है। मन्दिर भी सुन्दर सुदृढ बना है, किन्तु वहाँ सेवा पूजा का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं। उस मन्दिर मे जो द्रव्य लगा कर सेवा पूजा तथा नित्य नैमित्तिक उत्सवों का प्रबन्ध कर देता है, तो उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है और जो स्वय ही मन्दिर बनवाता है, स्वय ही उसमे अत्यन्त श्रद्धा भक्ति के सहित प्रतिमा को प्रतिष्ठित कराता है, स्वय ही उसकी सेवा पूजा का समुचित प्रबन्ध भी कर देता है, तो उसे इन तीनो परम पुण्य प्रद कर्मों के करने वाले के सम्बध में तो कहना ही क्या, वह तो मेरे समान ऐश्वर्य वाला हो जाता है। यदि बिना किसी कामना के निष्काम भक्तियोग से जो भक्त मेरी पूजा करता है, वह तो बिना किसी सदेह के मुझको प्राप्त कर लेता है। जो विधि पूर्वक भक्ति की इच्छा से पूजा करता है उसे मेरा भक्तियोग प्राप्त होता है।"

उद्धवजी ने पूछा—"भगवन ! जैसे कोई व्यक्ति है, वह तो अपने जीवन में आपके मन्दिर की पूजा के निमित्त आजीविका

लगा गया। खेत, बाग, बगीचा, ग्राम तथा अन्य दुकान आदि लिख गया। किन्तु उसके पश्चात् उसके पुत्र पौत्रों ने तथा अन्य उत्तराधिकारियों ने उन्हें छीन लिया। मन्दिर के कार्यों में व्यय न करके उसे अपने कार्य में व्यय करने लगे, तो लगाने वाले को तो कुछ दोष न होगा ?'

भगवान् ने कहा—"लगाने वाले को क्या दोष होगा। वह तो शुद्ध चित्त से दान कर ही चुका। हाँ, जो उस देवोत्तर सम्पत्ति को हरण करते हैं उनको अवश्य दोष होगा ?"

उद्धवजी ने पूछा—"उनको क्या दोष लगेगा ?'

भगवान् ने कहा—'अरे, भैया, उनके दोष को मत पूछो। ऐसे लोग लाखों वर्षों तक विष्ठा के कीड़े होते हैं। देवता अथवा ब्राह्मण को दी हुई वृत्ति को जो हरण करता है। वह वृत्ति चाहें स्वयं अपने आप ही उसने दी हो या उसके पूर्वजों ने, सम्बन्धियों ने अथवा किसी अन्य पुरुष ने दी हो, ऐसी वृत्ति को हरण करने वाले सभी रौरव नरकों में जाते हैं तथा विष्ठा के कीड़े होते हैं। इसलिये ब्राह्मण को दान की हुई वस्तु को तथा देवोत्तर सम्पत्ति को कभी भूलकर भी न लेना चाहिये। यही नहीं कि करने वाले को ही दोष लगता हो, जो उसमें सहायता देता है, अनुमोदन करता है तथा ऐसा करने को प्रेरित करता है सभी को दोष लगता है हरण करने वाला,,सहायक, प्रेरक और अनुमोदक ये चारों के चारों समान पाप के अधिकारी होते हैं। इसी प्रकार जो इन पुण्य कार्यों को करते हैं, ऐसे कार्यों में यथाशक्ति तनमन धन से सहायता करते हैं, ऐसे काम करने वालों को प्रेरित करते हैं करने वालों के कामों का अनुमोदन करते हैं उन्हें उत्साहित करते हैं इन सबको समान पुण्य होता है। इसलिये सदा ऐसे कामों का अनुमोदन करते रहना चाहिये।"

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! मैंने पूजा विधि तो सुनी, अब

आप मुझे सारातिसार उपदेश करें। संसार में परमार्थ क्या वस्तु है। कैसे हम समझे कि यह परमार्थ पथ का पथिक है। इसने यथार्थ में परमार्थ को प्राप्त कर लिया है या नहीं।"

यह सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"उद्धव! तुमने यह बड़ा ही उत्तम प्रश्न किया। अब मैं तुम्हे सारातिसार परमार्थ तत्व बताता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवान् जैसे परमार्थ तत्व का निरूपण करेंगे उसे मैं आप सबसे कहूँगा।"

छप्पय

धन को सत उपयोग जिहो मम पूजा होवै।
धरमहीन धन जोरि व्यरथ नर आयुष खोवै॥
मन्दिर सुघर बनाइ भोग नित नव लगवावै।
बाँटे प्रभु परसाद स्वय बन्धुनि सँग पावै॥
खेत, नगर आजीविका, पूजा हित अरपन करै।
करि धन व्यय सेवा निमित, भवसागर नर ध्रुव तरै॥